समाज और साहित्य

पहला भाग

लेखक

आनन्दकुमार

प्रकाशक

हिन्दी-मन्दिर

प्रयाग

प्रथम संस्करण] जुलाई, १९३८ [मूल्य ।।।)

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर
प्रयाग

पहला संस्करण, संवत् १९९५
मूल्य ।।।)

मुद्रक
हिन्दी-मन्दिर प्रेस
इलाहाबाद

पूज्यवर पिताजी

(पं० रामनरेश त्रिपाठी)

को सादर समर्पित

—आनन्दकुमार
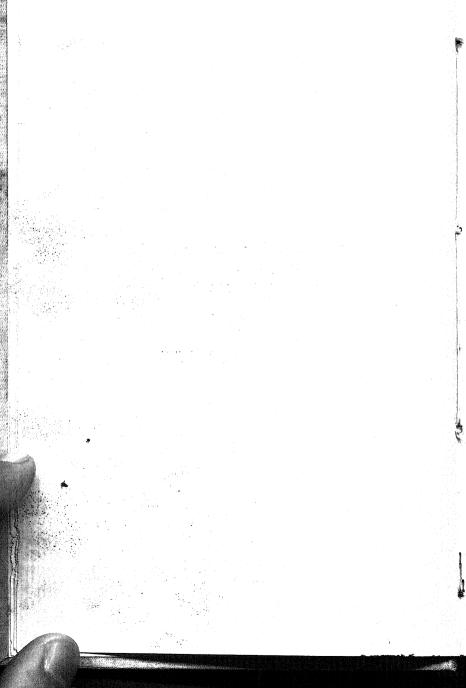
हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग
२१—७—३८

'समाज और साहित्य' के रूप में अपने छोटे-छोटे मौलिक लेखों का यह संग्रह मैं साहित्य-प्रेमियों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ। इनके विषय में मैं स्वयं क्या कहूँ! कहने की बहुत कुछ इच्छा रखते हुये भी कुछ कह नहीं सकता—उसी तरह जैसे कोई नवयुवक पिता अपने नवजात पुत्र के प्रति स्नेह रखते हुये भी अपने गुरुजनों के सम्मुख उसे प्रकट करने में संकोच करता है। ये निबन्ध आवश्यकता से अधिक अपूर्ण हैं, क्योंकि मैं इन्हें लिखने का अधिकारी नहीं था। ये साहित्य के लिये गौरव-स्वरूप तो नहीं होंगे; परन्तु अपने विषय के श्रेष्ठ निबन्धों की अविद्यमानता में आदर के पात्र अवश्य होंगे।

आनन्दकुमार

सूची
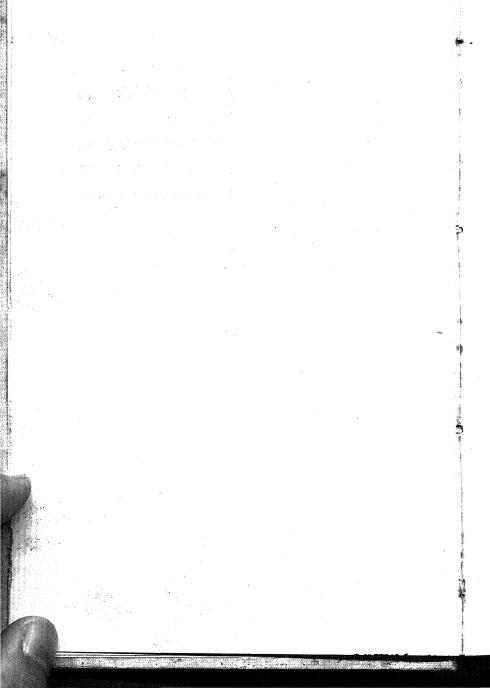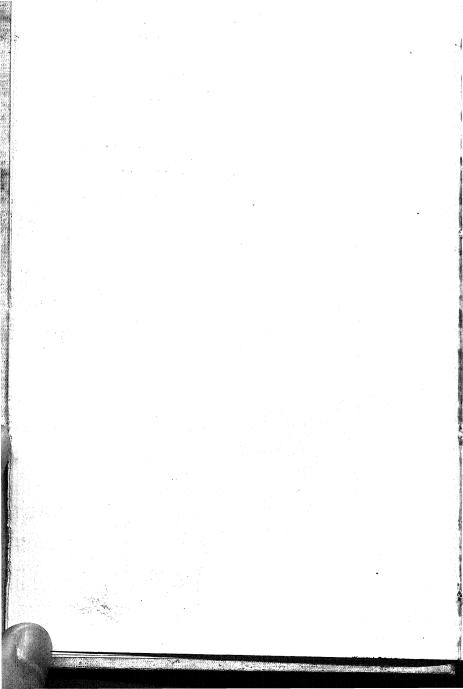
समाज और साहित्य

समाज

रात को जब पर्वत, दुर्ग, महल, झोपड़े सब सो जाते हैं, पता नहीं कितनी वेदनायें अपने-अपने हृदय-गृह से बाहर निकलकर अपने आश्रयदाताओं के सम्मुख रुदन करने लगती हैं। सब में समाज के प्रति विद्रोह की एक भावना छिपी रहती है। वे प्रेम-पथ के थके और निराश किसी युवक पथिक के सामने एकत्र होकर मूक हाहाकार करती हैं। वह नवयुवक उस समाज को विध्वंस करने को आतुर हो उठता है, जिसने उसे अपनी जाति और अपने धर्म से विमुख होकर किसी प्रण-यिनी का पाणि-ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी। वह समाज की उस सत्ता को निर्मूल कर देना चाहता है, जो उसके स्वच्छन्द कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने का दावा रखती है और लगाती भी हैं। वह नवयुवक उस समाज की उपेक्षा करना चाहता है, जिसने मनुष्य की निरंकुशता को सीमित रखने के लिये 'ईश्वर' और 'धर्म' नाम की वस्तुओं का आविष्कार कर रक्खा है।

यामिनी के प्रशांत वातावरण में उस युवती के हृदय में एक भीषण कोलाहल मचा रहता है, जिसकी युवावस्था की किसी अज्ञात भूल के कारण समाज उसे बहिष्कृत कर देता है। वह उस समाज की यन्त्रणाओं पर तिरस्कार के आँसू बहाती है, जिसके हृदय में करुणा नहीं, कोई उल्लास नहीं और मनुष्य की भूलों को भूल जाने की प्रवृत्ति नहीं।

समाज सब कुछ देखता है, सुनता है और अनुभव करता है। उसके सामने ही उसके नाम पर प्रतिदिन कितने ही मनुष्य अपने जीवन को बलिदान कर देते हैं, कितनी ही कुल-बालायें अपना धर्म त्याग देती हैं, पर वह एक निष्ठुर प्राणी की भाँति खड़ा रहता है, सब कुछ सहन करता है, विरोधियों का दमन करता है और अपने आसपास के झाड़-झंखाड़ों को निर्मूल करने में कार्यशील रहता है। मानों निष्ठुरता ही उसका धर्म है।

वह व्यक्तित्वशाली समाज, जिसके नियंत्रण में मनुष्य न जाने किस युग से चला आ रहा है, वास्तव में है क्या वस्तु, हमारे लिये सर्व-प्रथम यही प्रश्न विचारणीय है।

समाज की रूप-रेखा

समाज कुटुम्ब का एक विकसित एवं परिमार्जित रूप है। उसके मूल में एक ही परिवार के प्राणी रहते हैं। सब एक दूसरे की पीड़ा को समझते और सब एक दूसरे की क्रीड़ा और उसके आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होते हैं। यद्यपि विवाह का संबंध केवल वर और वधू ही से रहता है, पर आप देखते हैं कि सैकड़ों लोग उसमें सम्मिलित होते हैं। सभी वर-वधू की खुशी

में अपना हाथ बटाते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज प्रत्येक सत्पुरुष को अपने परिवार का एक प्राणी समझता है और उसके सुख-दुःख में उसे अपनी पूर्ण सहानुभूति तथा अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करता है।

समाज एक अदृश्य शक्ति है। शरीरों के समूह-मात्र को हम समाज नहीं कह सकते। यह देखा गया है कि किसी-किसी देश में करोड़ों मनुष्य भरे रहते हैं, फिर भी वहाँ का समाज पतित हो जाता है। इससे पता चलता है कि समाज मनुष्य के शरीरों का नहीं बल्कि बौद्धिक या मानसिक शक्तियों का समूह है। मानसिक शक्तियाँ ही उसका संचालन करती हैं। शरीर तो उन शक्तियों के ऑफ़िस होते हैं। किसी राजधानी का महत्त्व वहाँ के राजमहलों या राज-दुर्गों के कारण नहीं बढ़ता, बल्कि वहाँ राजा निवास करता है, इसीलिये वह स्थान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

समाज एक दर्पण है, जिसमें प्रत्येक प्राणी अपना ही वास्तविक प्रतिबिम्ब देखता है। काला आदमी उसमें अपना गोरा रूप नहीं देख सकता। अष्टावक्र उसके सामने अपने को अश्विनीकुमार नहीं प्रमाणित कर सकते। जो वास्तव में जैसा रहता है, समाज-रूपी दर्पण में उसे वैसा ही स्थान मिलता है।

समाज एक न्यायालय है, जहाँ अत्याचार से पीड़ित दुर्बल हृदयों की पुकार सुनी जाती है। दुःख से दग्ध और ताप से पीड़ित मनुष्य वहाँ आश्रय ग्रहण करते हैं। उस न्यायालय में सत्यवादियों के सत्य की रक्षा की जाती है। मर्यादाशील व्यक्ति उसकी सहायता से अपनी मर्यादा की लज्जा रखते हैं। राम वन जाने योग्य नहीं थे। किसी अपराध-द्वारा वे कलंकित

भी नहीं थे। फिर भी वे दशरथ की आज्ञा को मानकर वन चले गये। प्रजा राम के पक्ष में थी। राज्य के प्रधान कर्मचारी भी संभवतः उनके अधिकारों के औचित्य के सामने अपना सिर ही झुकाते। ऐसी दशा में राजा की अवज्ञा करके राम अपने बाहु-बल से अपनी प्रभुता स्थापित कर सकते थे। वे इसे अच्छी तरह समते थे कि उनके पिता ने उनके साथ अन्याय किया है। अयोध्या से निकलने पर रात को पेड़ के नीचे राम ने लक्ष्मण से कहा था कि हम अपने बाहु बल से समस्त अयोध्या को जीत सकते हैं; सिर्फ़ अधर्म और परलोक के भय से ऐसा नहीं करते। उन्होंने उसी प्रसंग में यह भी कहा था कि हे लक्ष्मण! कहीं तुमने यह भी सुना है कि किसी व्यक्ति ने अपनी स्त्री के वशीभूत होकर उसके कहने से अपने निरपराध पुत्र को घर से निकाल दिया है? राम अपने अधिकारों को समझते थे पर वे तत्कालीन सामाजिक नियमों की उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकते थे। समाज की नीति उस समय यही थी कि पुत्र पिता के लिये है। तत्कालीन समाज की शरण में आकर ही दशरथ अपनी और अपने वचन की रक्षा कर सके थे। समाज के न्यायालय में केवल न्याय होता है। कोई कितना भी बली क्यों न हो, यदि वह समाज के विपरीत कार्य करता है, तो समाज उसे पतनोन्मुख करने में अपनी समस्त शक्ति लगा देता है। बड़े-बड़े खौफ़नाक शक्तिशालियों ने मनुष्य-समाज को पद-दलित करने की चेष्टा की, किन्तु समाज अपने क्षेत्र में अटल रहा। अन्त में वही विजयी हुआ। उसकी एक लहर में हज़ारों मदशालियों का अस्तित्व वह गया। आज भी उन अत्याचारियों के मज़बूत क़िले खड़े हैं और लड़ाइयों के

रक्त-तृप्त मैदान पड़े हैं। समाज उनकी ओर देखता है और अपनी विजय पर अट्टहास करता है और गर्व करता है कि उसने लोक के साथ न्याय किया है।

समाज किसान का एक खेत है। प्रत्येक सामाजिक प्राणी उसमें अपने सहयोग का बीज बोता है। खेत ही नहीं, समस्त उर्वरा धरामात्र का यह गुण है कि वह एक बीज लेकर उसे सूद-सहित वापस करती है। एक बीज के बदले वह किसान को दस बीज देती है। लेन-देन की यही रीति समाज की भी है। मनुष्य समाज को थोड़ा ही सहयोग देता हैं; किन्तु कृतज्ञ समाज उसे उस सहयोग के बदले में अपना महान् सामूहिक सहयोग प्रदान करता है।

समाज मनुष्य का क्रीड़ा-स्थल है। मनुष्य जानता है कि एक दिन इस जीवन का अवसान हो जायगा। यदि आप हिसाब लगायें, तो ज्ञात होगा कि कार्य के लिए मनुष्य को कठिनता से १५ वर्ष मिलते हैं। आजकल लोग प्रायः ६० वर्ष की आयु तक जीते हैं। इसमें से २१ वर्ष विद्याध्ययन के लिये निकाल देने पर ३५ वर्ष बचते हैं। ५ वर्ष वृद्धावस्था की शिथिलता में चले जाते हैं। शेष ३० वर्ष में १५ वर्ष सोने में खतम हो जाते हैं। बाक़ी १५ वर्ष के भीतर मनुष्य जरा-मृत्यु की कोई चिन्ता न करके सारे आसमान को अपने सिर पर लिये फिरता है। यह जानते हुये भी कि जीवन-नाटक दुःखान्त है, मनुष्य रोज़ आनन्द की पगडंडी पर अग्रसर होने के लिये प्रयत्न-शील रहता है। यह जानते हुये भी कि मृत्यु के बाद इस संसार से उसका कोई सम्बन्ध न रह जायगा, वह रोज़ कुछ-न-कुछ रचनात्मक कार्य करता ही रहता है। इन सब में समाज

की एक अदृश्य प्रेरणा कार्य करती है। हर्ष और शोक का पाठ मनुष्य ने समाज ही से सीखा है। प्रबन्ध-चिन्तामणि में एक कथा है।—

भोज और कुलचन्द्र एक दिन छत पर बैठे थे। भोज ने कहा—

येषां वल्लभया सह क्षणमिव
क्षिप्रं क्षपा क्षीयते।
तेषां शीतकरः शशिर्विरहिणा—
मुल्केव संतापकृत्॥

'जो अपनी प्रिया के साथ रहकर रात को एक क्षण की तरह बिता देते हैं, उनके लिये यह चन्द्रमा शीतल है, किन्तु विरही मनुष्यों के लिये यह उल्का के समान ताप देनेवाला है।'

इसपर बेचारे कुलचन्द्र ने जवाब दिया।—

अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्ते
नो भयभ्रंशिना—
मिन्दू राजति दर्पण कृतिरसौ
नोष्णो न वा शीतलः॥

'हमारे तो न स्त्री है, न विरह ही, और न उल्का का भय ही है। अतएव दर्पण के समान दिखाई देनेवाला यह चन्द्रमा न ठंढा ही मालूम पड़ता है और न गरम ही।'

इस कथा से समाज की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। अकेले रहकर मनुष्य को न हर्ष का ज्ञान हो सकता है और न शोक का, न प्रेम का और न विरह का। समाज नाना प्रलोभन देकर मनुष्य की प्रवृत्तियों को अपनी ओर खींचे रहता है।

समाज गंभीरता से भरा हुआ एक अशांत प्राणी है। उसकी अशान्ति ही मनुष्यों में शान्ति का विस्तार करती है। थकने के बाद ही सुस्ताना अच्छा लगता है, अन्धकार ही में चन्द्रिका हँसती है, कीचड़ ही में कमल खिलता है, पपीहे के विरह-रुदन ही में उसके हृदय का हर्षमय संगीत छिपा रहता है। उसी तरह समाज की अशान्ति ही में उसकी शान्ति-प्रियता चमकती है। मूर्ख ही ज्ञानी की कसौटी है, कुरूपता ही सौन्दर्य की कसौटी है, वेश्या ही सती की कसौटी है, अशान्ति ही शान्ति की कसौटी है। गंभीर समाज मनुष्य को शान्ति देने के लिये प्रत्येक क्षण विचारशील रहता है। जातियाँ अधिक समय तक जीवित रहने के लिये ही मरती हैं। फूल अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिये ही मुरझाकर झड़ जाते हैं।

अपने कार्यों को अधिक स्थायित्व देने के लिये समाज मूर्तिमान् कठोरता है। समाज के साँचे में ढलने के पहले मनुष्य को उसके साथ घोर संघर्ष करना पड़ता है।

समाज एक माली की तरह है, जो पौधों की वृद्धि के लिये उन्हें काढता-छाँटता है। अथवा वह उस नाई की तरह है, जो उन्हीं बालों को काटता है, जिनकी जड़ में वह अपने ही हाथों से पानी देता है।

समाज एक रणक्षेत्र है, जहाँ प्रतिक्षण संघर्ष मचा रहता है। उस युद्ध में बहुत ही कम शूरमा विजय पाते हैं। अमृत पीने के लिये तो तैंतीस करोड़ देवता मिल जाते हैं, पर विष पीनेवाला कोई एक ही शिव नज़र आता है। असंख्य धन-राशि में से एक पैसा भिक्षा में देनेवाले अनेक धन-कुबेर मिलेंगे, पर भिक्षा-द्वारा अर्जित भोजन को भी भिक्षा में दे

डालनेवाले रन्तिदेव बहुत कम दिखाई देते हैं। धन से धन कमानेवालों की कमी समाज में नहीं रहती। जिसके पास एक लाख रुपया है, उससे वह दो लाख आसानी से कर लेता है, पर बिना धन के धन कमानेवाला संयमी पुरुष कोई बिरला ही मिलता है। समाज में उत्थान-पतन का संघर्ष सदैव मचा रहता है। इस संघर्ष-द्वारा ही समाज बल प्राप्त करता है।

समाज एक सिकता-राशि है। बड़े-बड़े अनुभवी उस पर चलकर अपने-अपने पद-चिन्ह छोड़ गये हैं। सैकड़ों वर्ष पहले याज्ञवल्क्य ने धोबियों की एक शरारत का अनुभव करके उनके लिये सरकारी दंड नियत किया था।—

वसानस्त्रीन्पणान् दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम्

'धोबी पराया वस्त्र पहने तो तीन पण दण्ड लेना।'

धोबियों की यह शरारत आज भी चलती है।

चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य ने नाइयों के विषय में अनुभव किया था।—

'नराणां नापितो धूर्तः'

'मनुष्यों में नाई धूर्त होता है।'

आज भी नाई अपनी काक-वृत्ति के लिये बदनाम है।

समाज ने साधारण-सी-साधारण बात की छान-बीन करके तब उसे स्वीकार किया है। इसीलिये सब विषयों में समाज का निर्णय ही मान्य एवं प्रामाणिक समझा जाता है और हम उसी के प्रशस्त मार्ग पर गमन करते हैं।

समाज का उद्देश्य

अपने अन्तर्गत रहनेवाले प्रत्येक प्राणी के जीवन को

अधिक से अधिक विकसित होने का अवसर देना ही समाज का उद्देश्य है। समाज का उद्देश्य सर्वत्र शान्ति स्थापित करना है। लड़ाई के उस मैदान में जहाँ गोले पर गोले चलते हैं, लाशों पर लाशें ढहती हैं, जहाँ मर्दों के सीने को बर्छियाँ फाड़ डालती हैं, हाथ में चन्द्रहास लेकर उतरे हुये योद्धाओं की कल्पना करके मैं सोचता हूँ कि वे कलह मचानेवाले बर्बर नहीं, बल्कि समाज के दूत हैं, जो समराङ्गण में अपनी शूरता का दीपक जलाकर शान्ति की खोज कर रहे हैं। सुदूर नगाधिराज के पवित्र अंक में बैठे हुये समाधिस्थ योगी की कल्पना करके मैं सोचता हूँ कि वह अपने ही लिये शान्ति नहीं खोज रहा है, बल्कि उसके द्वारा समस्त समाज चिर-शान्ति की खोज कर रहा है। समाज की प्रत्येक लड़ाई शान्ति के लिये चल रही है। शान्ति ही उसका परम लक्ष्य है।

समाज की रचना

इसी परम शान्ति की प्राप्ति के लिये समाज अपने भीतर क्रान्ति को जीवित रखता है। जिस खेत में खाने योग्य अन्न उत्पन्न होता है, उसी में उस अन्न को नष्ट करनेवाली तरह-तरह की झाड़ियाँ भी पैदा होती हैं। जिस समाज में धर्म की वेदी पर मर मिटनेवाले शहीद पैदा होते हैं, उसी में

मद्यं मासं च मीनं च मुद्रामैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदाहि युगे युगे॥

और,

हालां पिबति दीक्षितस्य मंदिरे,
सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु।
विराजते कौलवचक्रवर्ती॥

तथा,

नारि नारि सब एक हैं, जस मेहरि तस माय।

का उपदेश देनेवाले और आदर्श स्थापित करनेवाले महापुरुष भी उत्पन्न होते हैं। समाज उनके प्रति कृषक-धर्म का पालन करता है।

भाँति-भाँति के वस्त्रों से सुसज्जित प्रत्येक धनी को देखकर मैं सोचता हूँ कि इसने अनेक माताओं के पुत्रों को वस्त्र-विहीन बनाकर तब यह ऐश्वर्य प्राप्त किया होगा। हवा को चीरकर प्रकृति पर मनुष्य का जयघोष सुनाती हुई ट्रेन जब हरहराती हुई दौड़ती है, तो उसे देखकर हृदय में यह भावना तत्काल जाग्रत होती है कि मनुष्य की इस विजय के पीछे उसकी एक बहुत बड़ी पराजय खड़ी होकर हँस रही है। बरसात में वेग से बहती हुई नदी को देखकर यह विचार अनायास उठता है कि इसने सैकड़ों नालों का जल खींचकर और उन्हें जल-शून्य बनाकर तब अपनी यह प्रभुता स्थापित की है।

समाज में सर्वत्र उपरोक्त भावना कार्य करती है। एक की हँसी के पीछे हज़ारों का रुदन छिपा रहता है, और एक की जय के पीछे न जाने कितनों की पराजय मुँह छिपाकर रोती है। समाज की रचना ही इसी प्रकार से हुई है। उसमें सर्वत्र असमानता ही देखने को मिलेगी। यह असमानता ही समाज को आगे बढ़ने का अवसर देती है। यदि सभी धातुयें एक-सी हो जायँ तो सुवर्णमुद्रा और अधेले में भेद ही क्या रह जायगा। समाज अच्छे और बुरे लोगों के संयोग से बना है। उसमें ग़रीब भी रहते हैं और अमीर भी; मूर्ख भी रहते हैं और पंडित भी। फ्रेंच प्रहसन-लेखक Chamfort ने एक स्थान

पर सत्य ही लिखा है कि :—

'Society is composed of two great classes those who have more dinners than appetite and those who have more appetite than dinners.'

'समाज में दो मुख्य प्रकार के लोग रहते हैं—एक तो वे जिनके पास भूख से ज़्यादा भोजन होता है, और दूसरे वे जिनके पास भोजन से ज़्यादा भूख होती है।'

समाज की इन्हीं उलझनों को सुलझाकर मनुष्य अपने जीवन को संयत बनाता है। यदि बुराइयाँ न रहें, तो अच्छाइयों का अस्तित्व ही न रह जायगा। रात ही में तारे चमकते हैं। गरमी के कारण ही सरदी का अनुभव होता है।

समाज में कोई व्यक्ति एकाङ्गी दृष्टिकोण बनाकर नहीं रह सकता। कोई किसी को अच्छा बनने के लिये मजबूर नहीं कर सकता। यदि मजबूर करता है तो परिणाम उलटा होता है। मनुष्य में कुछ बातें स्वाभाविक होती हैं। वह जन्म ही से कुछ पैतृक सम्पत्तियाँ लेकर आता है। उसमें परिवर्तन तभी हो सकता है, जब वह स्वयं अपने स्वभाव में परिवर्तन करने की आवश्यकता समझे। मनुष्य दो प्राणियों के संयोग का परिणाममात्र है। वह काम से उत्पन्न हुआ है, अतएव कामवासना उसके हृदय में मूलरूप से वर्तमान रहती है। इसे तोप-तलवारों से नहीं रोका जा सकता। शरीर को हथकड़ी-बेड़ी पहनाई जा सकती है, लेकिन दिल को नहीं। जिन्होंने मनुष्यों के दिल पर पशु-बल-द्वारा शासन करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने सदैव धोखा ही खाया है। इतिहास के पाठक इंग्लैंड के क्रॉमवेल और भारतवर्ष के औरंगज़ेब से अवश्य ही परि-

चित होंगे। दोनों ने अस्त्र-बल से संगीत, नृत्य और अन्य प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधनों को अपने राज्य से पूर्ण-रूप से निकाल दिया था। उसका परिणाम जो हुआ, वह भी इतिहास के पाठक जानते ही हैं। दोनों के मरते ही दोनों देशों में विलासिता की एक लहर आई जो अधिकांश लोगों को अपनी धारा में बहा ले गई।

क्रॉमवेल और औरंगज़ेब को अपनी-अपनी क़ब्रों में सोने दीजिये। आधुनिक समय के गुरुकुलों को लीजिये। गुरुकुल के विद्यार्थी सैद्धान्तिक जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य किये जाते हैं। प्राकृतिक या वास्तविक जीवन से वे बहुत दूर रक्खे जाते हैं। वे युग के साथ-साथ नहीं चलने पाते। अगर उन्हें हँसी आती है, तो उनके अभिभावक उन्हें कहते हैं कि आठ-दस साल बाद हँस लेना। उन्हें इतनी अधिक अच्छाइयाँ सिखाई जाती हैं कि वे उनसे स्वभावतः ऊबकर बुराइयों की खोज में उसी तरह तल्लीन हो जाते हैं, जैसे आजकल के नवयुवक मिथ्या रहस्यवाद की कविता में। इसका कारण यही है कि गुरुकुल उन्हें सद्गुणों का सबक़ तो सिखाता है, लेकिन दुर्गुणों का बोध तक नहीं कराता। वह नवयुवक विद्यार्थियों के हृदय की आग को बुझाना चाहता है, लेकिन अपने जिन रूखे-सूखे उपदेशों को वह जल समझता है, वह वास्तव में जल नहीं, बल्कि जल की तरह दिखाई पड़नेवाला घी होता है। घी डालने से भी आग बुझ सकती है, ऐसा कभी सुना नहीं गया। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में अच्छाइयों और बुराइयों दोनों को व्यापक बना रहने देना आवश्यक है। हाँ, प्रश्रय अच्छाइयों ही को देना चाहिये। कोई कितना भी बहुधंधी

आदमी क्यों न हो, वह कभी यह न चाहेगा कि हमेशा दिन ही दिन रहे। दिन और रात दोनों का होना आवश्यक है। परिश्रमी मनुष्य दोनों से लाभ लेता है और आलसी दोनों को गँवा देता है। अच्छे लोग समाज की अच्छाइयाँ ले लेते हैं और बुरे लोग बुराइयाँ। समाज में एक ओर एक दल यह कहता है कि इस तरह से जीवन का निर्वाह करो कि मरने के बाद ईश्वर भी तुम्हारा क़र्ज़दार रहे। दूसरा दल यह कहता है कि ईश्वर है ही नहीं, अतएव निश्चिन्त रहो। समाज मिश्रित बुद्धियों का एक समुदाय है। वह कभी एक रूप धारण करके नहीं रह सकता। समाज में ढाई ईंट की जुदा मस्जिद बनानेवाले और तीन पाव आटा लेकर पुल पर रसोई बनानेवाले लोग रहते हैं और एकता-प्रिय तथा विनम्र लोगों का सम्प्रदाय भी रहता है। एक नवागन्तुक दैनिक जीवन के इन्हीं प्रश्नों को हल करके अपनी शक्ति और अपनी योग्यता का परिचय देता है। यदि ऐसे प्रश्न जीवन के सामने उपस्थित न हों, तो मनुष्य उन्नति करने का ख़्याल ही न करे और उसमें विवेक-शक्ति रह ही न जाय।

समाज की एकता और अनेकता

समाज अनेक होकर भी एक है। उसकी व्यापक-शक्तियाँ वास्तव में एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत हैं। सभी जगह झूठ बोलना पाप समझा जाता है। सभी जगह दुराचारों से घृणा की जाती है। प्रत्येक मनुष्य में प्रेम का कुछ न कुछ अंश रहता ही है। ईश्वर, धर्म, पाप, पुण्य, सत्य, मिथ्या आदि की व्यापकता सर्वत्र है। इनपर अधिकांश लोगों की व्याख्या भी एक-सी

मिलती है। पिता-पुत्र, भाई-बहन, स्त्री-पुरुष इन सब का संबंध भी सभी जगह एक-सा है। संसार का मानव-धर्म एक है। भिन्न-भिन्न देशों में प्रतिष्ठापित समाज वास्तव में एक ही समाज-रूपी धनुष के अनेक तीर हैं। या यों कहिये कि एक ही पिता के अनेक पुत्र हैं। सब के मूल में एक ही तत्त्व छिपा हुआ है। भिन्न-भिन्न समाज उन नदियों की तरह हैं, जो अपना कार्य समाप्त करके अपने आदि-पुरुष समुद्र में लीन हो जाती हैं। विश्व-समाज एक है। उसके सामने सब समान हैं। वह उस सूर्य की तरह है जिसके भीतर से प्रभातकाल में असंख्य किरणें निकलकर भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर जाती हैं। उनमें से कुछ हिन्दुओं के घरों पर चमकती हैं, कुछ मुसलमानों के और कुछ ईसाइयों के। वह सूर्य समान रूप से बिना किसी भेद-भाव के अपना आतप, प्रकाश और गुण उन्हें दान करता है। शाम होने पर उसकी सभी किरणें उसके भीतर एक भाव से विलीन हो जाती हैं। उनकी अनेकता एकता में बदल जाती है।

सच है कि समाज एक है, किन्तु वह अनेक रूपधारी है। भिन्न-भिन्न देशों में वह भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करता है। मैं एक आदमी हूँ; मेरे लिये यह संभव नहीं है कि मैं अपने परिवार के सभी व्यक्तियों के साथ एक ही प्रकार का सम्बन्ध रक्खूँ। मेरी माता के साथ मेरा दूसरे प्रकार का सम्बन्ध होगा, बहन के साथ अन्य प्रकार का और स्त्री के साथ विभिन्न प्रकार का। जाड़े में मलमल का कुरता नहीं काम देता और गरमी में ऊनी ओवर कोट कोई नहीं पहनता। जगह-जगह के जलवायु अलग-अलग होते हैं। उसका असर वहाँ के मनुष्यों पर पड़ता

है। अतएव सब जगह का समाज एक-सा रहे यह न तो मुमकिन है और न मुनासिब ही है। भारतवर्ष में ३१,३८,५८, ५६७ ग्राम और २,५७५ नगर हैं। किसी अन्य देश में अधिक नगर और कम ग्राम भी हो सकते हैं। अतएव दोनों देशों में समाज का एक ही रूप कैसे प्रचलित रह सकता है? कोई देश बहुत छोटा होता है और कोई बहुत बड़ा, कोई बहुत गरम होता है और कोई बहुत ठंढा। प्रत्येक देश की आवश्यकतायें जुदा-जुदा हो सकती हैं। इसलिये सब जगहों पर समाज के रूप को भी जुदा-जुदा होना पड़ता है, यद्यपि सभी में विश्व-समाज का मूल तत्त्व निहित रहता है।

हमारे लिये यह संभव नहीं है कि हम सभी देशों के समाज का वर्णन इस छोटे-से लेख में कर सकें और वास्तव में सब का वर्णन करना इन पंक्तियों के लेखक की शक्ति के बाहर की बात भी है। अतएव इस प्रसंग में भारतीय समाज पर एक सूक्ष्म दृष्टि डालकर हम इस लेख को समाप्त करेंगे।

भारतीय समाज

भारतीय समाज एक धागे की तरह है, जिसमें अनेक जातियाँ पिरोई हुई हैं। सब जातियों का अपना-अपना निजी अस्तित्व है।

प्राचीन भारतीय समाज में केवल आर्यों ही का प्रभुत्व था। उस समय सामाजिक जीव बनने के लिये मनुष्य को काफ़ी शिक्षा दी जाती थी। मनुष्य-जीवन का एकमात्र उद्देश्य यही समझा जाता था कि उसके द्वारा समाज का अधिक से अधिक कल्याण हो। तत्कालीन गुरुकुलों में समाज के भावी

कर्णधार तैयार किये जाते थे। समाज की पवित्रता को क़ायम रखने के लिये लोग अपना शरीर तक दान कर देते थे। स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ जीते-जी जल जाती थीं। उनकी इसी जवाँमर्दी को देखकर किसी फ़ारसी कवि को कहना पड़ा था।—

हम चु हिन्दू ज़न कसे
दर आशकी मरदाना नेस्त।
सोख़्तन बरशमा मुर्दा
कार हर परवाना नेस्त॥

'प्रेम में हिन्दू-स्त्री की तरह कोई मर्द नहीं। बुझी हुई शमा पर जल मरना हरएक परवाने का काम नहीं है।'

सृष्टि के उस यौवन-काल में सत्य ही लोगों का धर्म था। वे अपने या अपने वंश के कुकृत्यों को सत्य-द्वारा ही सुकृत्य प्रमाणित करते थे। जाबालि एक सुप्रसिद्ध अनीश्वरवादी हो गये हैं। चित्रकूट में राम से भी उनकी एक ज़बानी झड़प हो गई थी। बचपन में जब वे पढ़ने के योग्य हुये तो गुरुकुल में दाखिल होने के लिये अर्ज़ी लेकर पहुँचे। कुल-पिता गौतम ने पूछा कि किसका पुत्र और किस गोत्र का है? जाबालि ने जवाब दिया कि युवावस्था के प्रारंभ में मेरी माता ने अनेक पुरुषों के साथ संसर्ग किया था; अतएव कह नहीं सकता कि मैं किस गोत्र का और किसका पुत्र हूँ। कुल-पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—तुम निश्चय ही ब्राह्मण-सन्तान हो, क्योंकि तुम सत्य बोलते हो। सत्य के जल से जाबालि ने अपना समस्त कलंक धो डाला। शंख-लिखित तथा शिवि आदि के क़िस्से हिन्दू-समाज में खूब प्रचलित हैं। वे सत्य

हों या न हों, पर उनसे उस समय की मनोवृत्ति का पता तो चल ही जाता है कि तत्कालीन समाज सत्यवादिता को कितना महत्त्व देता था।

परन्तु हम यह मानने को हरगिज़ तैयार नहीं हैं कि उस समय का समाज सभी विषयों में पूर्णता को प्राप्त था। उसमें अनेक त्रुटियाँ थीं और वे त्रुटियाँ साधारण लोगों द्वारा नहीं, बल्कि समाज के नेताओं-द्वारा की गई होने के कारण क्षम्य नहीं हो सकतीं। उस समय इस समय से अधिक कामुकता थी। इसका अनुमान आप इसी से लगा सकते हैं कि उस समय के बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और तपस्वी तक किसी रूपवती युवती को एकान्त में देखते ही अपना समस्त संचित पुण्य नष्ट कर देते थे। एक-एक राजा के कई-कई हज़ार स्त्रियाँ होती थीं। जब समाज के महारथियों की यह दशा थी तो साधारण लोग तो और भी गये-गुज़रे रहे होंगे।

प्राचीन समाज के पतन का उदाहरण उस समय की स्त्रियों की अवस्था से मिल सकता है। उस समय (कम से कम महाभारत-काल में) स्त्रियाँ खुले-आम नीलाम होती थीं, दान में दी जाती थीं और सब प्रकार के अनाचारों की पात्री बनाई जाती थीं। वृहद्रथ राजा ने एक बार अन्य वस्तुओं के साथ-साथ १०,०००,००० कन्यायें भी दान में दी थीं। कृष्ण स्वयं कर्ण को प्रलोभन देते थे कि हमारी तरफ़ आजाओ तो पांडवों की सभी वस्तुओं के साथ-साथ द्रौपदी में भी तुम्हें एक हिस्सा मिलेगा। आजकल का जीवित समाज स्त्रियों के विषय में अधिक उदार है। वह स्त्रियों का ऐसा खुला अपमान और ऐसी अनार्यता बर्दाश्त नहीं कर सकता।

हाँ, उस समय की स्त्रियों पर किसी भी प्रकार का लांछन नहीं लगाया जा सकता। पवित्रता, सहनशीलता और आत्म-वीरता में आर्य-स्त्रियों की समता कहीं हो सकती है, इसमें हमें पूर्णरूप से सन्देह है। आर्य-स्त्रियों की वही धीरता अभीतक जीवित है और शायद यही कारण है कि अनेक प्रबल आघात सहकर भी हिन्दू-जाति अभीतक जीवित है।

प्राचीन ऋषि-मुनि ठाकुर शिवसिंह सेंगर की तरह थे। ठाकुर साहब हिन्दी-साहित्य के संभवतः प्रथम इतिहासकार थे। उन्हें सभी कवियों और उनकी कविताओं को देखकर महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने जगह-जगह लिख मारा कि।—

'यह कवि संस्कृत और भाषा के महान पंडित हैं। यह कवि बहुत सुन्दर कविता करने में चतुर थे। यह अद्भुत रचना है। इन कवि की कविता सूर्य के समान भासमान है। यमक-शतक नाम ग्रन्थ अति विचित्र बनाया। महा चतुर थे। महान कवि हो गये हैं। अपने समय के भानु थे। यह कविता में महा निपुण थे। इनका ग्रन्थ महा सुन्दर है। महा ललित काव्य किया है। अद्भुत ग्रंथ रचा है। यह महात्मा महा कवीश्वर थे। यह महाराज षट् शास्त्र के वक्ता थे। प्रथम काशी में पढ़कर बहुत दिनों तक दिग्विजय करते रहे। दोहा छंद में एक ग्रन्थ महा विचित्र बनाया। यह महा विद्वान् अरबी, फ़ारसी, तुर्की इत्यादि यावनी भाषा और संस्कृत तथा ब्रजभाषा के बड़े पण्डित, अकबर बादशाह की आँख की पुतली थे। यह कवीश्वर बड़े नामी हो गये हैं। इनके काव्य की प्रशंसा हम कहाँ तक करें, अपने समय के भानु थे।' (—शिवसिंह सरोज)

भिन्न-भिन्न कवियों के सम्बन्ध में ये सब ठाकुर साहब ही

के वाक्य हैं। ठाकुर साहब कोई ऐसे-वैसे आदमी नहीं थे। लछिराम कवि ने उनके विषय में लिखा है कि शिवजी अपने एक हाथ से तो पार्वती की कमर पकड़े रहते थे और दूसरा हाथ बाबू साहब के सिर पर रक्खे रहते थे।—

'एकै कर गौरि के सुकटि तट करे एकै,
सिवसिंह सेंगर के सिर पै धरे रहैं।'

(—शिवसिंह सरोज)

ऋषि-मुनि भी ऐसे ही थे। प्रकृति के प्रारम्भिक दिनों में तरह-तरह की चीज़ों को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। नाना प्रकार के शक्तिशाली देवताओं की कल्पना उन्होंने की। तरह-तरह के नियम बनाये। किसीकी जन्मकुंडली आप देखिये, तो उसमें आपको लिखा मिलेगा कि तुम्हारे ऊपर फ़लाँ ग्रह है, अगर फ़लाँ देवता का जाप करो तो टल जायगा। यह सिद्धान्त हमें वैसा ही लगता है जैसे आजकल किसी अफ़सर से कोई काम कराना होता है, तो लोग उसके ऑफ़िस के कर्मचारियों को रिश्वतें देकर अपना काम निकाल लेते हैं। उसी तरह ईश्वर की कुकृपा से बचने के लिए लोगों को देवताओं की उपासना करने को कहा जाता है। ऐसी ही अनेक कल्पनाओं द्वारा प्राचीन ऋषि-मुनियों ने हिन्दू-समाज को जकड़ दिया। उन्होंने अगर क़ायदा बना दिया कि सिर पर चोटी रक्खो तो हिन्दू लोग आज भी उनका वही क़ानून मानते चले आ रहे हैं। कोई यह नहीं सोचता कि सिर पर इस मूर्खता के झंडे को टाँग रखने में क्या लाभ है। पुरानी मोटर को हटाकर नई ख़रीदने में कोई भी आदमी पाप नहीं समझता, पर पुरानी सड़ी-गली प्रथाओं को त्यागने में सभी भड़क उठते हैं। ठाकुर

शिवसिंह की सम्मतियों का कोई विशेष मूल्य तो नहीं आँका गया, पर ऋषि-मुनियों की ऐसी कल्पित बातों पर हिन्दू-समाज अब भी विश्वास करता आ रहा है।

आर्य-समाज के अनन्तर भारतवर्ष में एक नवीन समाज का उदय उस दिन से होता है जिस दिन भारतवर्ष का अन्तिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान यवन-सम्राट् द्वारा पराजित हुआ और ग़ोरी का प्रतिनिधि क़ुतुबुद्दीन भारत-भाग्य-विधाता हुआ। उस समय से भारतवर्ष अनेक जातियों और सम्प्रदायों का एक अजायबघर बन गया।

नवीन समाज के अभ्युदय से प्राचीन समाज के अनेक बन्धन तो ढीले पड़ चले, पर उसकी अनेक गाँठें और भी अधिक कस उठीं। जातियों ने अपना अलग-अलग संगठन किया। समाज का दृष्टिकोण बदल गया।

यह मिश्रित भारतीय समाज आधुनिक युग के आगमन के साथ-साथ अब अधिक प्रकाश में आ खड़ा हुआ है। अब समाज की गति कम से कम इतनी स्पष्ट हो गई है कि हम इस बात पर विश्वास रखते हैं कि वह मंगलमय मार्ग पर जारहा है और हम खतरे में नहीं हैं।

भारतीय समाज का भविष्य

समाज चलते-चलते एक दिन अपनी मंज़िल को पार कर लेगा। हम उसी दिन की बाट जोह रहे हैं। एक दिन आयेगा, जब हिन्दू की रक्षा मुसलमान और मुसलमान की रक्षा हिन्दू करेंगे। मन्दिर की पवित्रता बचाने के लिये मुसलमान अपना रक्त पानी की तरह बहा देंगे और मसजिद को पाक रखने के

लिये हिन्दू .खुशी से अपना सिर उतारकर दे देंगे। वेद के आगे मुसलमान श्रद्धा से अपना सिर झुकायेंगे और .कुरान के सामने हिन्दू इज़्ज़त के साथ अपना मस्तक नवायेंगे। मुसलमान बहनें पनाह के लिये हिन्दू भाइयों के सामने अपना दामन पसारेंगी और हिन्दू बहनें अपनी रक्षा के लिये मुसलमान भाइयों के पास राखी भेजेंगी। हिन्दू-मुसलमान लड़ेंगे और .खूब लड़ेंगे, पर मज़हब के नाम पर नहीं, एक दूसरे को नष्ट करने की ग़रज़ से नहीं, बल्कि समाज को अधिक सभ्य बनाने के लिये। मगर जब हिन्दू जीतेंगे तो उनका जय-गान मुसलमान करेंगे और जब मुसलमान जीतेंगे तो उनका जय-गान हिन्दू करेंगे। वे अपनी मित्रता को दृढ़ बनाने के लिये लड़ेंगे। संघर्ष के बाद ही मेल होता है। दो लोहे गरम होकर ही जुड़ते हैं। कोई अपना मज़हब न छोड़ेगा। अपना काला रंग छोड़ कर सफ़ेद होने पर बाल भी बुरे लगते हैं। यही दशा मज़हब छोड़नेवालों की भी होगी। उस समय का समाज छोटे से छोटे अपराधों को भी महान् पाप समझेगा। कहावत है कि ककड़ी के चोर को फाँसी नहीं दी जाती, पर समाज अपने चरम उत्कर्ष पर तब पहुँचेगा जब ककड़ी के चोर को भी फाँसी दी जायगी।

जिस देश में, जिस दिन, जिस समय समाज अपनी इस पूर्णता को प्राप्त करेगा वह देश धन्य होगा, वह दिन धन्य होगा, वह समय धन्य होगा और उस महान् देश के उज्ज्वल समाज की कल्पना करनेवाला कवि धन्य होगा।

हम उस देश की सीमा पर कब पैर धरेंगे !!

कविता और कवि

कविता

कविता को मैं परिभाषा के भीतर सीमित नहीं करना चाहता। करना चाहूँ भी तो नहीं कर सकता। परिभाषा उसी वस्तु की हो सकती है, जो दृश्य हो। कविता अदृश्य वस्तु है। अतएव वह परिभाषित नहीं हो सकती। प्रेम की परिभाषा नहीं हो सकती। दिल के अरमानों की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। कविता हृदय की वस्तु है, उसे हृदय ही कहता और हृदय ही समझता है।

संगीत को हम समझें या न समझें, फिर भी उसमें हमें एक आनन्द मिलता है। सरिता के कलकल-स्वर में क्या भाव है, पता नहीं, पर हम उसे सुनकर सुख का अनुभव करते हैं। सौन्दर्य, प्रेम और नेत्र बोलते नहीं, फिर भी मनुष्य उनकी ओर आकर्षित होता है और उनके वश में हो जाता है। इसी प्रकार बहुत-सी कविताएँ समझ में नहीं आतीं, फिर भी उन्हें पढ़कर हृदय प्रसन्न हो जाता है, शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। इसका यही कारण हो सकता है कि मस्तिष्क उसे नहीं समझता, किन्तु हृदय उसमें अपना ही तत्त्व प्रवाहित देखकर उसकी ओर स्वभावतः आकर्षित होता है। कविता तो हृदय की विवाहिता वधू है ही।

जिस वस्तु को देखकर, सुनकर, पढ़कर अथवा जिसकी कल्पना करके हृदय में एक प्रकार के अज्ञात आनन्द एवं कौतूहल का आविर्भाव हो, उसमें कविता का निवास समझना चाहिये। तरुण स्त्री को देखकर हृदय में एक अतृप्त सुख का पुण्योदय होता है, अतएव उसके शरीर में कविता है। उसका शरीर किसी महान् कवि की रचना ही तो है। उसके अंग छंद उसका सौन्दर्य अलंकार तथा उसका लावण्य भाव का कार्य करते हैं।

जो स्वाभाविक और संवेदनात्मक ध्वनि मनुष्य के अन्तस्तल से अनायास निकल पड़ती है, उसमें कविता निवास करती है। नतमस्तक दीनों की सकरुण पुकार में कविता है, वीरों के सिंहनाद में कविता है, पक्षी के सान्ध्यगीत में कविता है। इन्हें सुनकर रसज्ञ हृदय विह्वल एवं रस-द्रवित हो जाता है। क्यों ? पता नहीं। शायद इनमें कविता है।

संगीत, अस्फुट वेदना, लालित्य, शब्द, अर्थ, भाव, संदेश, सत्य, कल्पना, माधुर्य, प्रवाह, कला, रहस्योद्घाटन की प्रवृत्ति, चमत्कार, आकस्मिक उन्माद, हृदय की वासना एवं उल्लास तथा धुँधली स्मृतियों से विलसित अचानक अस्फुटित होनेवाली रचना कविता के नाम से पुकारी जाती है।

कविता हृदय की कसौटी है। अपनी-अपनी ग्राहिका-शक्ति के अनुसार ही लोग उसे ग्रहण करते हैं। उसके लिये वक्ता और श्रोता दोनों की आवश्यकता होती है। वक्ता कितना भी बड़ा भाव-शिल्पी क्यों न हो, यदि उसे सहृदय श्रोता न मिलेगा, तो उसकी कविता निरुद्देश्य हो जायगी। इसीलिये कहा भी है कि तुम कविता को तबतक नहीं समझ सकते, जबतक तुम्हारे हृदय

में स्वयं कविता का कुछ अंश वर्तमान न रहे।

कविता और पद्य

कविता पद्य में भी हो सकती है और गद्य में भी। पर पद्य ही उसके लिये अधिक उपयुक्त होता है। रानी बनारसी इक्के पर भी बैठकर चल सकती है, पर क्या वह उसकी मर्यादा के अनुकूल होगा ?

सबसे मुख्य बात यह देखी जाती है कि प्रस्तुत रचना सार्थक और प्रभावोत्पादिनी है, अथवा नहीं। इसीके आधार पर कविता की परीक्षा होती है। उदाहरण के लिये केशवदास का एक पद्य लीजिये।—

काल कमाल करील चुरील,
तिसाल बिसालनि चाल चली है।
हाल बिहालति ताल तमाल,
प्रबाल कमाल कबाल लली है।।
लोल बिलोल कमोल अमोल,
कचोल कमोल कलोल कली है।
बोलति बोल कपोलनि टोल,
तिगोल निगोल कलोल गली है॥

—कविप्रिया

इसमें केवल शब्द ही शब्द हैं। इस पद्य का कोई अर्थ नहीं है। यह 'मृतक-दोष' का उदाहरण है। कोई अर्थ न होने से इसमें कोई संवेदना या प्रभावोत्पादिनी शक्ति हो ही नहीं सकती। अतएव कविता के गुणों से यह सर्वथा वंचित है। यद्यपि यह अलंकार-युक्त है, पद्यबद्ध है, फिर भी निर्जीव है।

शरीर है, पर मुर्दा है। इससे सिद्ध होता है कि कविता में हम उसके बाहरी अवयवों पर उतना दृष्टिपात नहीं करते जितना उसके आन्तरिक सौन्दर्य पर।

पद्य और कविता में उतना ही अन्तर होता है, जितना आदमी और इन्सान में। प्रत्येक आदमी इन्सान नहीं हो सकता; उसी तरह प्रत्येक पद्य कविता नहीं हो सकता। पद्य कविता का एक अंशमात्र है। उसमें कविता का एक अंश हो सकता है, पर यह आवश्यक नहीं कि वह स्वयं कविता हो। किसी दवा में Alcohol का कुछ अंश हो सकता है। इसके माने यह नहीं कि वह दवा ही Alcohol है। पद्य कविता-नायिका की साड़ी है। उस साड़ी का निजी अस्तित्व तबतक कुछ भी नहीं है, जबतक वह पहननेवाली से संयुक्त न रहे। जबतक उसके भीतर कविता का शरीर नहीं रहता, तबतक उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। निम्नलिखित दो पद्यों की परीक्षा कीजिये।—

ऐ हो श्रीयुत रायबहादुर लछिमीसंकर।
चटसालन के इन्सपेक्टर एम० ए० पदधर॥
निज डिप्टी श्रीमान मोलवी अकबर खाँ को।
साथ लिये जिमि फबत हम कहत वा उपमा को॥
किधौं दैत्यगुरु साथ भानु को तात सुहावत।
किधौं चन्द के संग भूमि को सुत छबि पावत॥

—का०योपवन
(हरिऔध)

ज्वानी चहै फेरि जो आवन तो यह जतन कराउ।
अँवरा को रस काढ़ि के अँवराचूर्न सनाउ॥

अँवराचूर्न सनाउ भाउना दै बहुतेरी।
बरनै मदनगोपाल बात जो मानै मेरी॥
सुखै घाम में खाइ खाँड मधु सों यह सानी।
ऊपर पीजै दूध फेरि चाहै जो ज्ञानी॥'

—मदनगोपाल
(शिवसिंह-सरोज)

ये दोनों पद्य हैं। इनके अर्थ भी हैं। पर इनमें पद्यकारों की सम्वेदनाओं का सर्वथा अभाव है। इन्हें पढ़कर पाठक के हृदय में कोई उत्तेजना नहीं पैदा होती। छन्द, अर्थ और तुकान्त के बल पर ये पद्य कविता का कार्य नहीं कर सकते। काठ के बैलों से कहीं खेती होती है?

अब आप निम्नांकित पद्यों की ओर ध्यान दीजिये।—

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई।
कैसी ही हो सरस सरिता बारि-शून्या न होवे॥
ऊधो, सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का।
मोती ऐसा रतन अपना आह! कोई न खोवे॥
छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो, कोई न कल छल से लाल लेले किसी का॥
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का॥

—हरिऔध
(प्रियप्रवास)

सरके कपोल के उजाले में दिवस, रात
केशों के अँधेरे में निकल भागी पास से।
संध्या बालपन की युवापन की आधीरात
मैंने काट डाली क्षणभंगुर विलास से॥

श्वेत केश झलके प्रभात की किरन-से तो
आँखें खुलीं काल के कुटिल मंदहास से।
मेरे करुणानिधि का आसन गरम होगा
कौन जाने कब मेरे शीतल उसास से॥
—रामनरेश त्रिपाठी
(मानसी)

बहन आज फूली समाती न मन में।
तड़ित् आज फूली समाती न घन में॥
घटा है न फूली समाती गगन में।
लता आज फूली समाती न बन में॥

कहीं राखियाँ हैं, चमक है कहीं पर,
कहीं बूँद है, पुष्प प्यारे खिले हैं।
ये आई है राखी, सुहाई है पूनो,
बधाई उन्हें जिनको भाई मिले हैं॥
—सुभद्राकुमारी चौहान
(मुकुल)

मैं नीर भरी दुख की बदली।
... ...
विस्तृत नभ का कोई कोना।
मेरा न कभी अपना होना॥
परिचय इतना इतिहास यही।
उमड़ी कल थी मिट आज चली॥
—महादेवी वर्मा
(सांध्यगीत)

इन पद्यों में कविता है। इनमें इनके कवियों की संवेदना

है, सहृदयता है, विह्वलता है, तन्मयता है और अनुभूति है। इन्हें हम कविता कह सकते हैं और ये कविता हैं ही।

कविता की कसौटी

कविता में सबसे प्रधान गुण सहृदयता का होता है। जब कवि अपने हृदय से किसी बात का अनुभव करके अपनी सारी सहानुभूति कविता को प्रदान करता है, तभी उसमें जीवन आता है। कविता में कवि की सहृदयता और तन्मयता ही पाठक को अपनी ओर आकर्षित करती है। सहृदय कवि की कविता अधिक से अधिक स्पष्ट होती है। उसे समझने के लिये मस्तिष्क को परिश्रम नहीं करना पड़ता। वह सीधे जाकर हृदय को स्पर्श करती है। उसमें व्यर्थ के आडम्बर नहीं होते। सरस कविता-रूपी कुलवधू अत्यंत सरल-रूप से अपने पति हृदय के पास जाती है। जटिल कविता वेश्या की तरह अलंकार के आभूषणों से लदकर और अपना कृत्रिम रूप बनाकर तब अपने प्रेमी हृदय के पास जाती है। हृदय के पास पहुँचने के पहले उसे पहला मोरचा हृदय के संरक्षक मस्तिष्क से लेना पड़ता है।

जहाँ कविता में सहृदयता रहती है, वहीं उसमें स्वाभाविकता रहती है। स्वाभाविकता कविता का एक विशेष गुण है। कविता में स्वाभाविकता लाने के लिये कवि को मनुष्य-स्वभाव का पूर्ण ज्ञाता होना पड़ता है।

गंगा को हिमालय रूपी सन्तरी के हाथ की लपलपाती हुई तलवार मानना स्वभाव-प्रिय है, अतएव यह स्वाभाविक है। उसे हिमालय के मुत्र की क्रै या उसका मूत्र कहना

या सुनना किसी को अच्छा न लगेगा, अतएव यह अस्वा-भाविक है।

कविता की स्वाभाविकता में कवि का महान् अनुभव छिपा रहता है। उसे मनुष्य के भावों की क्रमिक गति को अच्छी तरह से समझना पड़ता है। जब कवि लिखता है कि।—

चौगुनी चंचलता हू किये हमैं,
चाव ही सों चुप ह्वै रहनो है।
औगुन की बतियानहुँ में,
हरिऔध सदा गुन ही गहनो है॥
भाव तिहारे भलेई अहैं,
हमें भूलि न औंर कछू कहनो है।
फेरी करौ कै करौ जनि तेरी,
सरोजिनी को सबही सहनो है॥

—रसकलस

तो इसमें हम स्वाभाविकता को सर्वांश में जीवित पाते हैं। सरोजिनी को हम कुलवती स्त्री मान लें और भ्रमर को उसका अनियंत्रित पति, तो हमें ज्ञात होगा कि इन पंक्तियों में एक मर्यादाशील आर्याङ्गना का स्वाभाविक चित्र अंकित है।

इसी प्रकार मतिराम का यह चित्र भी अत्यन्त स्वा-भाविक है।—

भीतर भौन के द्वार खरी,
सुकुमार तिया तन कंप बिसेखै।
घूँघट को पट ओट दिये,
पट ओट किये पिय को मुख देखै॥

—रसराज

नई शादी करने के बाद पहले-पहल ससुराल जानेवाले रसिक नवयुवक इन पंक्तियों की सार्थकता और स्वाभाविकता को अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

कविता में अस्वाभाविकता तब आती है, जब कवि जान-बूझकर कविता करता है।

बिहारी ने एक जगह लिखा है कि एक नायिका ने एक बालक को बुलाकर अत्यन्त पुलकित होकर उसके उस मुख को चूम लिया जिसे उसके पति ने चूमा था—

बिहँसि बुलाइ बिलोकि उत,
प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को,
पिय चूम्यो मुख चूमि॥

क्या कोई माता अपने बच्चे को इसीलिये चूमती है कि उसको उसका पति भी चूमता है? वात्सल्य में शृङ्गार की यह भावना लाना महज़ अस्वाभाविक और अश्लील है।

स्वाभाविक कविता में एक स्वाभाविक गंभीर गति होती है। अस्वाभाविक कविता की गति दिखावटी होती है। वह ऊपर से अत्यन्त चमत्कारोत्पादिनी मालूम पड़ती है किन्तु उसके भीतर गहराई कुछ नहीं होती। स्वाभाविक कविता का आनन्द रस-मर्म्मज्ञ ही ले सकते हैं और अस्वाभाविक कविता साधारण जनता का ही मनोरंजन कर सकती है। कुल-वधू की मर्य्यादा कुलीन व्यक्ति ही समझ सकता है। वेश्या के रूप-रंग की ओर बहुसंख्यक साधारण जन आकर्षित होते हैं। स्वाभाविक और अस्वाभाविक कविता का भी यही रहस्य है।

स्वाभाविकता के साथ-साथ कविता को रस से सींचना भी

पड़ता है। रस को कविता की आत्मा माना गया है। हम उसी कविता को श्रेष्ठ मानते हैं जो सरस होती है। और श्रेष्ठ कवियों को हम 'रस-सिद्ध कवि' कहते हैं। हृदय में सभी रस वर्तमान रहते हैं। अतएव कविता में वर्णित किसी भी रस को ग्रहण करने की शक्ति हृदय में होती है। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी का हृदय किसी बात को अधिक चाहता है और किसी बात को कम। कोई सुबह का सूर्य पसन्द करता है, कोई दोपहर का और कोई शाम का।

(वेई नैन लागत रुखाई भरे औरन को,
वेई नैन लागत सनेह भरे नाह को।)

(मतिराम)

मनुष्य की इसी रुचि-विभिन्नता के आधार पर ही संसार के भिन्न-भिन्न कोटि के कवियों का अस्तित्व स्थिर है। अन्यथा यदि सब की रुचि एक-सी होती तो आप कह सकते थे कि इसी रुचि के कवि की कविता को रख लो बाक़ी को नष्ट कर दो।

रस के साथ ही साथ कविता में प्रवाह की आवश्यकता होती है। प्रवाहात्मक कविता की गति गयन्द-गति के समान होती है। उसमें आदि से अन्त तक शब्दों और भावों का एक-शृङ्खलाबद्ध क्रम रहता है। उदाहरणार्थ—

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही,
तारा-घट ऊषा-नागरी॥

—प्रसाद

मध्य निशा निर्मल निरभ्र नभ,
दिशा विराव विहीना।

विलसित था अम्बर के उर पर,
अद्भुत एक नगीना ।।
उसकी विशद प्रभा सर कानन,
तृण लतिका द्रुम दल में ।
करती थीं विश्राम परम
अभिराम निशीथ कमल में ।।

—रामनरेश त्रिपाठी

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का,
सहाय होना असहाय जीव का ।
उबारना सङ्कट से स्वजाति का,
मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है ।

—हरिऔध

इन सब के साथ-साथ गुण भी कविता का एक प्रमुख सहायक है । गुण का साक्षी श्रवण और पारखी हृदय है । जब-तक कविता में ओज, प्रसाद या माधुर्य इन तीनों गुणों में से कोई गुण नहीं रहता तब तक वह पूर्ण रूप से कविता नहीं कही जा सकती ।

कविता-कामिनी को कवि लोग कुछ आभूषण पहनाते हैं जिन्हें साहित्यिक भाषा में अलंकार कहते हैं । किन्तु जहाँ वे उसको मारवाड़ी स्त्री की तरह अलंकार रूपी आभूषणों से लाद देते हैं वहाँ उसका प्राकृतिक सौन्दर्य विकृत हो जाता है । जैसे ।—

'नोनी नोनी नोनिनै नोने नोने नैन,
नाना ननना नाननै ननु नूनै नूनैन ।'

—कविप्रिया (केशवदास)

कविता की समस्त श्री अर्थालङ्कारों में छिपी रहती है। अग्निपुराण का कथन भी है कि—'अर्थालङ्कार-रहिता विधवेव सरस्वती'। अर्थात् बिना अर्थालङ्कार के सरस्वती विधवा के समान है।

कविता में वर्णित वस्तु का अनुकूल वर्णन ही पाठकों पर प्रभाव डालता है। वास्तव में वर्णन करना ही कवि का मुख्य प्रयोजन होता है। साधारण व्यक्ति और कवि में यही तो अन्तर होता है कि संग्रह तो दोनों ही कर सकते हैं लेकिन उस संगृहीत सामग्री का दान कवि ही कर सकता है। बहुत से ऐसे धुरंधर पंडित होंगे जिन्होंने वेद-पुराण को तुलसीदास के इतना ही पढ़ा होगा। पर तुलसी के समान उसका उपयोग करने वाले उनमें से कितने हैं? सरिता, पहाड़, झील, झरना, नदी, तालाब जहाँ से भी जो कुछ कविता-सामग्री मिली सबको तुलसीदास ने एक ग़रीब की तरह बटोर कर उसे एक राजा की तरह दान कर दिया। साधारण व्यक्ति में ये दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ काम नहीं कर सकतीं। वर्णन करने में कवि को अपनी अद्भुत क्षमता दिखानी पड़ती है। प्रत्येक वस्तु को हृदय के लिये ग्राह्य बनाने में उसे काफ़ी कारीगरी करनी पड़ती है।

सीता अत्यन्त रूपवती हैं। इस बात को अधिक हृदयस्पर्शी बनाने के लिये कवि को इसका वर्णन इस प्रकार से करना पड़ा।—

> सीय बरनि तेहि उपमा देई।
> कुकबि कहाइ अजस को लेई॥
> जौ पटतरिय तीय महँ सीया।
> जग अस जुबति कहाँ कमनीया॥

गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही॥
जौ छबि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू।
मथइ पानि पंकज निज मारू॥
येहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहँहि सीय समतूल॥

—रामचरितमानस

राम धनुष तोड़ रहे थे, उस समय सभी स्त्रियों की दृष्टि उनके हाथों ही की तरफ़ थी। इसका वर्णन देव कवि ने इस प्रकार किया है।—

श्री रघुनाथ के हाथन पै,
मृगनैनिन नैन-सरोज चढ़ाये।

— देव

सुबह गुलाब की कली चटखती है, उसका वर्णन कवि ने इस असाधारण रूप में किया है।—

फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न।
मनो बुलावति मधुप को, दै चुटकी की सैन॥

—मतिराम

भौंरों का गूँजना और पल्लवों का हिलना, ये सब साधारण-सी घटनायें हैं। पर देखिये ठाकुर गोपालशरणसिंह इसमें कितना चमत्कार ला देते हैं।—

हैं मधुप मचाते ऊधम,
क्या उनका हाल बतायें।
मृदु पल्लव-पाणि हिलाकर,
करती हैं मना लतायें॥

बातें वही पुरानी हैं, पर कवियों ने अपने वर्णनों-द्वारा उनमें विशेष लालित्य ला दिया है। पेड़ वही पुराने हैं पर बसन्त के आगमन से वे नये हो गये हैं।

वर्णन करने के लिये शब्दों की आवश्यकता होती है। शब्द ही कवि के अस्त्र होते हैं। उनके द्वारा ही कवि पाठक के हृदय पर आघात करता है। उनके द्वारा ही वह अपने श्रोता को वर्णित वस्तु की ध्वनि तक सुना देता है। जैसे।—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
—तुलसीदास

जाति चली ब्रज-ठाकुर पै,
ठमका ठुमकी ठमकी ठकुराइन।
—देव

नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न॥
—बिहारी

पूरब को भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के।
—सेनापति

बाजे अस्तोदय की वीणा,
क्षण क्षण गगनाङ्गण में रे।
—रामनरेश त्रिपाठी

प्रथम दो वर्णनों को पढ़ते समय ऐसा आभासित होता है मानों हमारे सामने ही स्त्रियाँ उक्त आभूषणों को पहनकर चल रही हैं। तीसरे उदाहरण से प्रभात की चहल-पहल ध्वनित होती है। चौथे में शब्दों के बीच में बादलों की गर्जना सुनाई पड़ती है। पाँचवें उदाहरण की पंक्तियों से वाद्य-विशेष की ध्वनि निकलती है।

वर्णित विषय के अनुसार ही शब्दों का प्रयोग करने से कविता में प्रौढ़ता आती है। इस विषय में सूरदास का दावानल विषयक एक पद्य उदाहरणीय है। इसमें आप देखेंगे कि विषय के अनुसार शब्दों का चयन कितनी सावधानी से हुआ है और वे अपने-अपने स्थान पर कितनी सफलता के साथ जड़े गये हैं।—

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन
धरनि आकास चहुं पास छायो॥
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस,
जरि उड़त है घास अति प्रबल धायो॥
झपटि झपटत लपट फूल फूटत पटकि
चटकि फटि लट लटकि द्रुम नवायो॥
अति अगिनी झारभार धुँकार करि
उचटि अंगार झंझार छायो॥
बरत बन पात भहरात झहरात
अररात तरु महा धरनि गिरायो॥

—सूरदास

शब्दों के अनुचित प्रयोग से कवि की कविता का भाव

ही नष्ट हो जाता है। जैसे—देव का सिन्धु देश की तरुणियों का वर्णन देखिये।—

बसुधा कौ सोधि कै सुधारी बसुधारनि सौं,
सरस सुधारनि सुधारन सुबेस की।
धरम की धरनी धरासी धाम धरनी की,
धर धरनी की धन्य धन्यता धनेस की॥
सिद्धन की सिद्धि-सी असिद्धि सी असिद्धन की,
साधता की साधक सुधाई सुधाबेस की।
सुधानिधिदानी सुधानिधि की सुसुद्ध बिधि,
सिन्धुरगवनि गुनि सिन्धू सिन्धु देस की॥

—देव

इसे पढ़ते समय ऐसी ध्वनि निकलती है जैसे कहीं धर-पकड़ मची है। इसी तरह देव की एक पंक्ति और उल्लेखनीय है।—

दौरि छिपी मुख नैन छिपाई,
छिपाये छिपै न छपाकर की छबि।

—देव

कवि बात कर रहा है किसी नायिका के विषय में लेकिन पढ़ते समय मालूम पड़ता है जैसे कोई अपनी नाक साफ़ कर रहा है।

सूदन ने सुजान-चरित में युद्ध का वर्णन किया है, पर उसमें शब्दों का प्रयोग वर्णन के अनुकूल होते हुये भी भावों के विपरीत है, अतएव पढ़ने पर हृदय में कोई भाव जाग्रत ही नहीं होता। सारी कविता पढ़ते समय ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे, कोई मशीन बिगड़ गई है, उसी की आवाज़ आरही है।—

अति घोर मार जहाँ घुरी।
दसहू दिसा भई घुंधरी॥
घरधद्धरं　　घरधद्धरं।
भड़भम्भरं　　भड़भम्भरं॥
तड़तत्तरं　　तड़तत्तरं।
कड़कक्करं　　कड़कक्करं॥
घड़घध्घरं　　घड़घध्घरं।
झरझझ्झरं　　झरझझ्झरं॥
अरररर्रं　　अरररर्रं।
सरररर्रं　　सरररर्रं॥
घरररर्रं　　घरररर्रं।
ढरररर्रं　　ढरररर्रं॥
खरररर्रं　　खरररर्रं।
फरररर्रं　　फरररर्रं॥
कड़डड्डडं　　कड़डड्डडं।
सड़डड्डडं　　सड़डड्डडं॥

—सुजान-चरित

अतएव यह आवश्यक है कि शब्दों का चयन और प्रयोग भावों के अनुकूल हो। हिन्दुओं में 'प्रणाम' शब्द जितना सम्मानित समझा जाता है उतना 'सलाम' नहीं, यद्यपि दोनों एक ही अर्थ प्रकट करते हैं। 'मेरे देश तुम्हें प्रणाम है' यह किसी को न खटकेगा पर अगर इसी को 'मेरे देश तुम्हें सलाम है' कर दिया जाय तो भाव की सारी गंभीरता ही शिथिल पड़ जाती है। इसी तरह

करने लगा शरीर-सदन में,
यौवन-दीप उजाला।

में 'यौवन-दीप' की जगह 'यौवन-लैम्प' आजकल के लिये अधिक सार्थक हो सकता है, पर कविता की सरसता और गंभीरता नष्ट हो जायगी।

कविता तभी रसवती मालूम पड़ती है जब उसमें चुने हुये शब्दों का सुगठित प्रयोग होता है। कभी-कभी शब्दों का प्रयोग अलंकारयुक्त और शुद्ध तो होता है किन्तु वह श्रवणप्रिय नहीं होता। जैसे।—

रस रासि रस तें सरस रस सारे हैं।

—हरिऔध

उड़े चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै।

—देव

देव मनोज के ओज चवी,
सु कँपी कुच कोर चकोर चखी की।

—देव

शब्दों के चुनाव के समान छन्दों के चुनाव पर भी ध्यान देना पड़ता है। प्रत्येक छन्द की गति अलग-अलग होती है। भाव के अनुसार ही छन्द चुना जाता है। जितना बड़ा पैर होता है उतना ही बड़ा जूता फ़िट होता है। बीमारी के अनुसार ही दवा देने से लाभ होता है। दमा के कीटाणु फ़िनायल पीने से नहीं मर सकते।

टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में।
झड़ झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में॥
कर पटक रही थी निमग्ना पीट छाती।
सन सन करके थी शून्य की साँस आती॥

—साकेत

यही शान्त भाव कवि द्रुतविलम्बित या अन्य किसी द्रुत गतिवाले छन्द में नहीं ला सकता था। यह मालिनी छन्द है। इसका प्रवाह अत्यन्त मन्द होता है। अतएव इसमें करुणा, शोक, रात्रि की निस्तब्धता, हृदय की मार्मिक पीड़ा आदि विषयों का वर्णन अधिक सफलता के साथ हो सकता है। इसी छंद में 'प्रिय प्रवास' की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं।—

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
मुझ दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मैं आजलौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥

—हरिऔध

इसी प्रकार पंचचामर छंद नपी-तुली चालवाला है। यह दरबारी डाँट-फटकार सुनाने के लिए, रौद्ररस या वीररस की कविता के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। यह फ़ौजी छंद है।—

पढ़ौ बिरंचि मौन बेद जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही।
न बोलु चन्द मन्द बुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥

—केशवदास

छंद कविता के भाव को किस तरह से चमका देते हैं, इसका एक उदाहरण और लीजिये। रामायण में राम की राजगद्दी का अवसर सबके लिये बड़ा सुखदायक है। किसी भी राजा की राजगद्दी का अवसर प्रजा के लिये उत्सुकता और प्रतीक्षा का कारण हुआ करता है। जिस वक़्त राजा गद्दी पर

बैठता है तोपें छूटती हैं, डंके पर चोट पड़ती है, नाना प्रकार के मंगलोत्सव होने लगते हैं। चारोंओर एक शाहीपन नज़र आने लगता है। तुलसीदास ऐसी परिस्थितियों के बड़े जानकार थे। वे अवसर से चूकना तो जानते ही न थे।

राम जैसे ही गद्दी पर बैठते हैं वैसे ही वे चौपाई को छोड़कर एक शाही छंद हरिगीतिका को पकड़ लेते हैं।

सिंघासन पर त्रिभुवन राई।
देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥

लिखने के बाद ही वे हरिगीतिका का प्रारंभ कर देते हैं।—

नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंधर्ब-किन्नर गावहीं।

उन्हें इस बात का ध्यान था कि राम की राजगद्दी ही रामायण की सब से प्रिय लगनेवाली घटना है। इसे पढ़ते ही भक्त और पाठक आनन्द-विह्वल हो जायगा और भावोन्मेष एवं उमंग में झूमने लगेगा। इसलिये उन्होंने तत्काल एक समयोपयोगी छन्द का प्रयोग कर दिया। यहाँ पर चौपाई के बाद ही नपी-तुली चाल पर चलनेवाली हरिगीतिका का प्रयोग वैसा ही स्वाभाविक और उचित लगता है जैसे राजगद्दी के बाद तोप का दगना, नगाड़ों का बजना और मंगल-पाठ का होना। चौपाई में भी तुलसीदास दुन्दुभी बजवा सकते थे, गन्धर्व-किन्नरों का नाच करा सकते थे, पर उनकी ध्वनि इतने ज़ोर से न सुनाई पड़ती, जितने ज़ोर से हरिगीतिका में सुनाई पड़ रही है। रामचरितमानस में इस तरह के अनेक प्रसंग उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास ऐसे ट्रिक्स से ख़ूब वाकिफ़ थे। केशवदास इस मामले में बड़े कमअक़्ल थे। वे समयोचित छंदों का प्रयोग तो जानते ही न थे। उनकी कविता की स्वाभाविकता को नष्ट

करने में छन्दों का भी बहुत बड़ा हाथ है।

इस प्रकार भाव और रस के अनुसार ही छंद चुनने से कविता का उद्देश्य स्पष्ट हो सकता है। मेम को देहाती 'पियरी' नहीं फब सकती। घास की तरह बढ़ी हुई दाढ़ी खुरपे से नहीं छीली जा सकती।

भाषा का सवाल

कविता में भाषा का प्रश्न भी विचारणीय है। खड़ी बोली के बाल्यकाल में अनेक लोगों को उससे बड़ी ईर्ष्या हुई थी। पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था।—

जो कविता नहीं जानते वे अपनी बोली चाहे खड़ी रक्खें चाहे कुदावें, पर कवि लोग अपनी प्यार की हुई बोली पर हुक्म चलाके उसकी स्वतंत्र मनोहरता का नाश नहीं करने के।

—निबन्ध-नवनीत

बाबू जगन्नाथदास 'रतनाकर' को भी शारदा से प्रार्थना करनी पड़ी थी।—

जात खड़ी बोली पै कोऊ भयौ दिवानो।
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है अरुझानो॥

× × ×

हम इन लोगनि हित सारद सौं चहति विनय करि।
काहू बिधि इनके हिय की दुर्मति दीजै दरि॥

— समालोचनादर्श

पर भाषा का यह झगड़ा बेकार है। भाषा कवि के लिए हो सकती है कवि भाषा के लिए नहीं हो सकता। कोट पहनने-

वाले के नाप का बन सकता है, पहननेवाला अपने शरीर को कोट के नाप का नहीं बना सकता।

तमिल भाषा का कवि अपनी ही भाषा को सर्वश्रेष्ठ समझता है।—

सोल्लिल उयर्वु तमिल सल्ले अदै,
तोषुदु पडित्तिडडि पापा।

(तमिल भाषा ही सब ज़बानों में श्रेष्ठ है, इसलिए हे बच्चो, तुम भक्ति के साथ उसे पढ़ो।)

भाषा के विषय में कवि को बाध्य नहीं किया जा सकता। भाषा के विषय में हमें कबीर की सम्मति पसन्द है कि चाहे काली गाय दुहो या पीली दोनों का दूध एक-सा होगा।—

भाषा तो संतन जे कहिया,
संसकिर्त रिषिन की बानी है जी।
ज्यों काली पीली धेनु दुहिया,
एक ही छीर सो जानी है जी॥

—कबीर

कवि

यहाँतक तो मैं राजा की राजधानी और वहाँ के अफ़सरों का वर्णन कर आया, अब स्वयं राजा का वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ।

कोष के अनुसार पंडित-मात्र को हम कवि कह सकते हैं। प्राचीन ग्रंथों में कवि शब्द पंडित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता के इस

वृष्णीनां वासुदेवोस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।

(यादवों में मैं वासुदेव हूँ, पांडवों में अर्जुन हूँ, मुनियों में व्यास हूँ और कवियों में शुक्राचार्य कवि हूँ ।)
कथन से भी यही भाव लक्षित होता है कि पहले पंडित को ही कवि कहा जाता था क्योंकि शुक्राचार्य नीतिकार थे कवि नहीं ।

अब पंडित और कवि में अन्तर होगया है । पंडित के पास मस्तिष्क-बल होता है और कवि के पास हृदय-बल । पंडित ज्ञान का संचय ही कर सकता है । उसे खर्च वह बड़ी कंजूसी से करता है । किन्तु कवि संचय के साथ दिल खोलकर अपनी ओर से कुछ मिलाकर उस संचित धन का दान भी कर सकता है ।

कविता की भाँति कवि भी ठीक-ठीक परिभाषित नहीं हो सकता । कवि वह है जो स्वयं भावुक हो और दूसरों को भी भाव-मग्न बनाने की कला में प्रवीण हो । हृदय के मर्म को समझनेवाला व्यक्ति कवि है । हृदय के अस्पष्ट भावों को शब्दों के सहारे स्पष्टता के प्रकाश में लानेवाला कलाविद् कवि है । प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति जो अपनी प्रतिभा को अपने भीतर छिपा रखने में असमर्थ हो, कवि है । जिसके हृदय में उद्देश्यहीन कल्पनायें उठा करती हैं और जो उन्हें पकड़कर शब्दों में सुरक्षित कर सकता है, वह कवि है ।

कवि और साधारण व्यक्ति में अन्तर होता है । उतना ही अन्तर जितना बिजली के लैम्प और लालटेन के प्रकाश में होता है । साधारण वस्तु को भी कवि इस प्रकार से प्रकाशित

करता है कि वह एक असाधारण किन्तु वास्तविक रूप में दिखाई देती है। एक ही वस्तु साधारण व्यक्ति और कवि के हृदय पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती है, जैसे एक ही सूर्य ढेले और मणि पर भिन्न-भिन्न प्रकार से चमकता हुआ मालूम पड़ता है।

साधारण व्यक्ति की वाणी उसके मरणोपरान्त मौन हो जाती है पर कवि की वाणी सदैव के लिए ज़ीवित रहती है। समय उसे पुरानी नहीं बना सकता। वह पर्वतों को पार करती है, सागर की उच्छृंखल लहरों से भी टक्कर लेती हुई आगे बढ़ती जाती है। उसे कोई रोक नहीं सकता। उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। वह युग-युग में मनुष्य-मनुष्य को अपना सन्देश सुनाती रहती है।

कवि और कवि में भी अन्तर होता है। इस विषय में मैं 'श्रीरामचन्द्रोदय-काव्य' की भूमिका का एक अंश उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ।—

केवल साधारण व्यक्ति और कवि ही में अन्तर नहीं होता, बल्कि एक कवि और दूसरे कवि में भी बड़ा अन्तर होता है। जैसे एक ही स्त्री को एक अवस्था का व्यक्ति अपनी पुत्री के रूप में देखेगा, दूसरी अवस्था का व्यक्ति उसी को बहन के रूप में देखेगा, और तीसरी अवस्था का व्यक्ति अपनी माता के रूप में देखेगा, उसी तरह एक ही वस्तु या एक ही विषय को एक कवि एक रूप में देखेगा और दूसरा कवि उससे भिन्न रूप में। प्रत्येक वस्तु को अपनी मौलिक दृष्टि से देखने के लिये कवि पूर्ण रूप से स्वतंत्र है। हम किसी पचास वर्ष की आयु वाले मनुष्य को बाध्य नहीं कर सकते कि वह एक सोलह वर्ष की स्त्री को देख कर कहे कि यह तो मेरी माता के समान है।

—रामनरेश त्रिपाठी

कवि प्रत्येक वस्तु को अपनी व्यापक दृष्टि से देखता है। गंगा को देखकर वह कहेगा यह प्रयाग के गले में पड़ी हुई मोतियों की माला है। स्त्री की नाक को देखकर वह कहेगा कि यह कामदेव की दोनली बन्दूक है या क़लम की तेज़ नोक है। चन्द्र को वह निशा-नायिका की मुसकान या खड़िया मिट्टी का ढोंका समझेगा। अर्द्धचन्द्र को देखकर वह कहेगा कि यह सूर्य के घोड़े की नाल है, दिन में चलते वक्त गिर गई होगी। सकलंक चन्द्रमा को देखकर वह कहेगा कि मालूम होता है चन्द्रमा के मुख-चन्द्र पर मुहाँसा निकल आया है। सघन घन-राशि में विद्युत्-विलास देखकर वह कल्पना करेगा कि यह बिजली नहीं है बल्कि देवलोक में कोई आदमी लालटेन जलाने के लिये दियासलाई जलाता है पर मौसम खराब होने से वह बुझ-बुझ जाती है। किसी सुकुमारी को देखकर वह भय प्रकट करेगा कि कहीं अंचल के भार से इसकी बाँहें न मुरक जायँ। नल (Pipe) को वह दमयन्ती-नाथ कहकर सम्बोधित करेगा। स्त्री के शरीर पर भीगे वस्त्रों को देखकर वह कहेगा कि ओहो! ये वस्त्र भी इस सुकुमारी के शरीर से लिपटे रहने में आनन्द अनुभव करते हैं। इस प्रकार कवि की दुनिया ही निराली होती है।

कवि अनेक रूप धरकर समाज में स्वच्छंद होकर विचरण करता है। पेड़-पत्ती, फूल, झील, झरना, तृण, पर्वत सभी से बातचीत करने की शक्ति वह रखता है। जब वह चलता है तो प्रकृति की सुकुमारियाँ उस पर अपना तन-मन वार देती हैं। फूल द्रुमालय खोलकर उसका स्वागत करते हैं। चातक, चकोर, मोर, कीर, केकी उसकी विरदावली गाते हैं। पवनान्दोलित

लतिकायें झूमकर मूक स्वर में अपना प्रेम-सन्देश उसे सुनाती है। टूटे-फूटे खँडहर ध्वनिहीन भाषा में उसे अपनी अतीत-गाथा सुनाने लगते हैं। कितना ऐश्वर्यशाली होता है कवि !

कवि सब के हृदयों का प्रतिनिधित्व करता है। एक कवि एक अवसर पर कहता है।—

बलि झूलो झुलाओ झुको उझको,
यहि पाखैं पतिब्रत ताखैं धरौ।

—हरिश्चन्द्र

दूसरे अवसर पर वही कवि कहता है।—

जग में पतिब्रत सम नहिं आन।

—हरिश्चन्द्र

जो कवि

जोगहू ते कठिन संजोग पर नारी को।

—देव

कहता है, वही एक स्त्री के मुख से कहलाता है—

साथ में राखियै नाथ उन्हें,
हम हाथ में चाहतीं चारि चुरी ये।

—देव

कवि एक दर्पण के समान होता है जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग अपना-अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।

कवि स्वयं कष्ट उठाकर भी विश्व को सुख का संगीत सुनाता है। उसके व्यक्तिगत रुदन में ही उसका मधुर संगीत छिपा रहता है। उसका पराजित हृदय संसार को विजयोल्लास का स्वप्न दिखाता है। मेरे इस कथन की सार्थकता बच्चन कवि की निम्नांकित पंक्तियाँ सिद्ध करेंगी।—

सोचता है विश्व कवि ने,
कक्ष में बहु विधि सजाये।
मदिरनयना यौवना को,
गोद में अपनी बिठाये॥

होंठ से उसके विचुम्बित,
प्यालियों को रिक्त करते।
झूमते उन्मत्तता से,
ये सुरा के गीत गाये॥

राग के पीछे छिपा,
चीत्कार कह देगा किसी दिन।
हैं लिखे मधु-गीत मैंने,
हो खड़े जीवन-समर में॥

हैं कुपथ पर पाँव मेरे,
आज दुनिया की नज़र में॥

—बच्चन

कवि विश्व के लिये इतना परिश्रम करता है पर विश्व कवि को उसके जीवन-काल में ज़रा भर भी सम्मानित नहीं करता। उसके जीवन में लोग उसकी उपेक्षा ही करते हैं।

साहित्य के सच्चे निर्माताओं को विश्व ने उनके जीवन-काल में कभी नहीं पहचाना है। उस समय तो वही यश का भाजन बन बैठता है जिसे खूब चिल्लाकर आत्म विज्ञापन करना आता है। भवभूति जैसे श्रेष्ठ कवि को भी अपने जीवन-समय में अनेक अपमानों का पात्र बनना पड़ा था तभी उन्होंने कहा था कि संसार अनन्त है, कभी न कभी मेरे काव्य के पारखी उत्पन्न होंगे, मेरा यह परिश्रम उन्हीं के लिये है।

मराठी के एक श्रेष्ठ लेखक ने इस ओर संकेत किया है कि विशेष कार्य करनेवालों के निन्दक तुरन्त तैयार हो जाते हैं, इसीलिये बड़े-बड़े ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में खलों का वर्णन कर दिया है। यह कुछ अंशों तक बिलकुल सत्य है।

जिन्हें अपने जीवन में यश नहीं मिलता वे सचमुच बड़े भाग्यशाली होते हैं, क्योंकि उनके स्वागत में उदार भविष्य अपना राजद्वार खोले खड़ा रहता है और वे अपने यश की एक ऐसी बुनियाद डाल जाते हैं जिसे समय की लहरें भी उखाड़कर नहीं फेंक सकतीं।

कविता और विज्ञान

अब समय की गति के साथ-साथ कवियों की कल्पना की उड़ान भी शिथिल पड़ती जा रही है। प्रकृति से मनुष्य का सम्बन्ध धीरे-धीरे टूटता जा रहा है। गाँव नगर बनते जारहे हैं, नीरव वन आबाद होते जा रहे हैं, सरिताओं से नहरें निकालकर उनका उमड़ा हुआ यौवन नष्ट किया जारहा है। यह विज्ञान का युग है। इस युग में मनुष्य की प्रवृत्ति छानबीन की ओर अधिक बढ़ गई है। कविता में भावों को संचारित करना पड़ता था, विज्ञान में प्रत्येक बात को प्रमाणित करना पड़ता है। विज्ञान ने प्रकृति की गोदाम का ताला खोल दिया है। अब मालूम हो गया है कि उसमें क्या है। अब कौतूहल के लिये कोई रहस्यमयी सामग्री ही नहीं रह गई। जो लोग पहले कहते थे।—

Twinkle twinkle little star,
How I wonder what you are,

up above in the world so high,
Like a diamond in the sky.

वही अब कहते हैं—

Twinkle twinkle little star,
I don't wonder what you are,
You're the cooling down of gases,
Forming into solid masses.

पिछले ज़माने में पोस्टऑफ़िस आदि नहीं थे, इसीलिये मेघदूत आदि की कल्पना की जाती थी। अब तो तार या टेलीफ़ोन-द्वारा चन्द मिनटों में प्रेमिका से प्रेमालाप किया जा सकता है। अब स्त्रियाँ बादलों से यह प्रार्थना नहीं कर सकतीं कि।—

आजु बरसि जा मोरि कनवज में।
कन्ता एक रैन रहि जायँ॥

अब किसी को बरसात आदि से कोई बाधा नहीं पहुँच सकती। पानी बरसे तो पति बरसाती कोट (Water proof) पहनकर चला जायगा। दूसरे अब पहले की तरह घोड़े पर या पैदल यात्रा तो की नहीं जाती। ट्रेन में हवा पानी का क्या डर ?

इस मशीनों के युग में कविता का सारा भेद ही प्रकट हो गया है। अकबर ने ठीक ही कहा है।—

मग़रिब ने ख़ुर्दबीं से उसकी कमर देख ली,
मशरिक़ की शायरी का मज़ा किरकिरा हुआ।

—अकबर

लोग व्यापार आदि में अब इतने लिप्त हो गये हैं कि वे

कविता के लिये समय निकाल ही नहीं सकते। इसके लिये भी कवि अकबर का यह शेर याद आता है।—

मेरे मनसूबे तरक्क़ी के हुये सब पायमाल।
बीज मग़रिब ने जो बोया वह उगा औ फल गया॥
बूट डासन ने बनाया मैंने इक मँजमूं लिखा।
मुल्क में मँजमूं न फैला और जूता चल गया॥

—अकबर

अब पैसों का ज़माना है। सब काम पैसे से किया और कराया जाता है। पैसे का इंजेक्शन देकर किसी के हृदय में भावों का प्रवेश ज़बरदस्ती नहीं कराया जा सकता। इसीलिये आजकल की कवितायें स्वाभाविकता के गुण के बिलकुल बरी होती हैं। इस विषय में अकबर ने सच ही फ़र्माया है।—

भरते हैं मेरी आह को फ़ोनोगिराफ़ में।
कहते हैं फ़ीस लीजिये और आह कीजिये॥

—अकबर

ख़ैर, कुछ भी हो, कविता कविता ही रहेगी, विज्ञान विज्ञान रहेगा। कविता को विज्ञान से अलग रखना पड़ेगा। यह सच है कि विज्ञान ने कविता को बहुत ज़बरदस्त धक्का दिया है, लेकिन अभी जबतक पृथ्वी पर ईश्वर के बनाये हुये मनुष्य पैदा होते रहेंगे और मशीनों-द्वारा-निर्मित लोहे और टिन के मनुष्यों की आबादी नहीं बढ़ेगी, तबतक कविता होती रहेगी, कवियों का अस्तित्व बना रहेगा और उनकी क़द्र करनेवाले लोग भी बने रहेंगे।

विवाह

तू अकिञ्चन भिक्षुक है मधु का,
अलि, तृप्ति कहाँ जब प्रीति नहीं।
—रश्मि

विवाह एक बन्धन है। वह एक ऐसा बन्धन है जिसमें बँधकर मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव करता है। संभवतः मनुष्य के लिये उसके जीवन की यह सबसे मधुर एवं स्मरणीय घटना होती है। दो व्यक्ति जीवन के एक नये प्रान्त में चरण रखते हैं। संसार प्राचीन होते हुये भी नवीन मालूम होने लगता है। मनुष्य और संसार का संबंध और भी अधिक घनिष्ट हो जाता है। द्वैतवाद अद्वैतवाद में परिणत हो जाता है। दो अपरिचित व्यक्ति मिलकर सदा के लिये एक हो जाते हैं। मानों वे यह संदेश देते हैं कि जिस तरह से छोटे-से घर के दो प्राणी मिलकर एक हो सकते हैं, उसी तरह इस विशाल विश्व के समस्त प्राणी भी मिलकर एक दिन एक हो जायँगे।

विवाह हृदय का बंधन है। उसका मूल संबंध केवल हृदय से रहता है। शरीर-संबंधी वासना-जन्य प्रेम से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। दो शरीरों के संयोग को विवाह नहीं कहते। दो शरीरों का संयोग तो विवाह की अनुपस्थिति में भी हो सकता है और कभी-कभी होता ही है, लेकिन उसे हम विवाह के नाम से नहीं, बल्कि व्यभिचार के नाम से पुकारते हैं। दो हृदयों के लोक-सम्मत और प्रकट संयोग का नाम विवाह है।

अधिकांश भाग्यवानों के लिये विवाह अत्यन्त कल्याणकारी होता है, परन्तु अनेक भाग्यहीनों के जीवन को वह खँडहर भी बना देता है। जीवन-प्रभात में मनुष्य का सौभाग्य-सूर्य मधुर उमंगों की प्राची दिशा में उदय होता है; किन्तु उसका विवाह पश्चिम दिशा की तरह उस सूर्य को अपनी ओर खींचकर उसे निराशा-निशा में विलीन कर देता है। वैवाहिक जीवन में निराश होने पर मनुष्य को अपने जीवन में शायद सबसे गहरा धक्का लगता है। उसका उठता हुआ हृदय पिस जाता है। मनुष्य का छोटा-सा जीवन विपदाओं का नाट्य-मंच बन जाता है।

मनुष्य की इस विफलता की ज़िम्मेदारी कुछ अंशों तक उसके स्वभाव पर रहती है, परंतु इसके मूल कारण उस नव-वयस्क व्यक्ति के अभिभावकगण होते हैं जिनके आश्रय में वह रहता है और जिनपर उसे विश्वास रहता है कि वे उसके साथ विश्वासघात नहीं करेंगे। पर वह धोखा खाता है।

मनुष्य जब वृद्ध हो जाता है तो उसके विचार बिलकुल बदल जाते हैं। उसके सिर के सफ़ेद बाल सफ़ेद झंडे की तरह उसके विपक्षी संसार को यह सूचित करते हैं कि अब वह जीवन-रणक्षेत्र से अलग होकर उसके साथ संधि करना चाहता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का दृष्टिकोण बिलकुल बदल जाता है। शिथिलता की अवस्था में उसके शरीर के दो ही यन्त्र कार्य करते हैं—दिमाग़ और जीभ। वह नवयुवकों को बड़ी नीची निगाह से देखने का आदती हो जाता है। वह प्रायः यह कहता हुआ सुना जाता है कि साहब, हम लोगों के ज़माने के लड़के कितने नेक होते थे, अब ज़माना ही दूसरा होगया। आज जो

व्यक्ति युवावस्था के रंगों में रँगा है कल वही वृद्ध होने पर युवकों को तुच्छ समझने लगेगा और तत्कालीन नवयुवकों की स्थिति पर खेद प्रकट करेगा। दुनिया की यह विचित्र रीति न जाने कब से चली आ रही है। नवयुवक और नवयुवतियों के विवाह में भी इन्हीं बुड्ढों की थकी हुई, ज़ंग लगी हुई और *Old Model* की रुचि कार्य करती है। वे किसी धूर्त्त पंडित की राय इस विषय में ले लेंगे कि यह संयोग उत्तम होगा या नहीं, लेकिन वे इस प्रश्न पर मनुष्यतापूर्वक कभी विचार नहीं करेंगे कि हम जिनका विवाह करने जारहे हैं उनकी रुचि किधर है और इस विषय में उनकी क्या सम्मति है।

विश्व-हृदय स्त्री-मय है। प्रकृति की प्रायः सभी सुन्दर और मधुर वस्तुयें स्त्री-वाचक हैं। पृथ्वी पर मनुष्यों का राज्य है किन्तु मनुष्यों पर स्त्रियों का राज्य है। मनुष्य बचपन में स्त्री ही की गोद में पलता है, युवक होने पर सबसे पहले वह सुन्दर स्त्री की कामना करता है, वृद्धावस्था में भी उसकी यही कामना रहती है कि उसके समीप उसकी वह चिरसङ्गिनी सदैव उपस्थित रहे जिसके साथ मिलकर उसने कभी समय के साथ घोर युद्ध किया था। स्त्रियाँ सौन्दर्य, प्रेम और समस्त सरस भावों की साकार मूर्ति होती हैं। सारा संसार सौन्दर्य और प्रेम की तलाश ही में निरन्तर भगा चला जा रहा है। शायद विश्व-नियन्ता स्वयं सौन्दर्य और प्रेम का अन्तिम रूप देखने के लिये ही भाँति-भाँति की सृष्टि रचता रहता है।

आँखों की ग्राहिका-शक्ति एक-सी नहीं होती। सौन्दर्य के विषय में लोगों की कसौटी भिन्न-भिन्न है। अभी तो संसार इसी प्रश्न को नहीं हल कर पाया कि सौन्दर्य वास्तव में है क्या वस्तु।

कोई हरे-भरे कुसुमित कानन को सुन्दर समझता है और कोई निर्जन मरुस्थल को। गोरी स्त्री को कुरूप और काली स्त्री को सुरूप समझनेवाले लोग भी पृथ्वी पर हैं। किसी को एक रंग और रूप की वस्तु पसन्द आती है और किसी को दूसरे। किसी को लम्बी-लम्बी मूँछें पसन्द आती हैं, किसी को आधी कटी हुई और किसी को बिलकुल सफ़ाचट। इससे यह सिद्ध होता है कि जो जिसको रुचे वही उसके लिये सुन्दर है।

प्रत्येक पुरुष सुन्दर स्त्री की कामना करता है और प्रत्येक स्त्री सुन्दर पुरुष की कामना करती है। यह कामना कोई अपराध नहीं है, क्योंकि यह प्रकृति-प्रदत्त है! उनके लिये कौन सुन्दर है और कौन नहीं इसका निर्णय तो अपनी रुचि के अनुसार वे ही कर सकते हैं। उनकी और उनके अभिभावकों की रुचि में अन्तर हो सकता है। इसी अन्तर के कारण नवयुवक और नवयुवतियों का वैवाहिक जीवन उनके लिये भार-स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार विवाहित होनेवाले पराश्रितों की आत्मा का संहार करके उनके साथ जो घोर अन्याय किया जाता है उस लोक-रीति के प्रति मैं अपने हृदय की घृणा को किन शब्दों में प्रकट करूँ! मुझे उस चकोरी की दशा पर करुणा आती है जो शीतल चन्द्रमा को चाहती है, पर उसे आग के दहकते हुये अंगारे दिये जाते हैं। कई अवसरों पर ऐसा देखा जाता है कि पति-पत्नी को चाहता है, पर, पत्नी पति को नहीं चाहती; अथवा पत्नी पति को चाहती है, पर, पति पत्नी को नहीं चाहता।

प्राचीन समय के स्वयंवर अच्छे थे। उनमें विवाहेच्छुक लोग किसी कन्या-विशेष का पाणिग्रहण करने की इच्छा से

एकत्रित होते थे और कन्या उनमें से किसी एक को अपनी इच्छा के अनुसार चुन लेती थी। एक दूसरे की ओर दोनों का समान आकर्षण रहता था। यही कारण था कि उनका वैवाहिक जीवन अत्यन्त पवित्र, सुखमय एवं चिरस्थायी होता था। दोनों अपना-अपना उत्तरदायित्व समझते थे।

प्राचीन काल में लोग वर या वधू बनने के लिये ही इच्छुक नहीं रहते थे, वरन् उनका मुख्य उद्देश्य पति या पत्नी बनना होता था। आजकल वर होना सरल है, पति होना कठिन; वधू होना आसान है, पत्नी होना मुश्किल। प्राचीन समय में बड़ी तपस्या के बाद लोग पति बनते थे। उस समय पति होना कठिन था, पिता होना आसान। इस ज़माने में पति होना सरल है, पिता होना कठिन। यह सब वैवाहिक प्रणाली का दोष है।

इसीलिये बहुत-से लोग घबड़ाकर विवाह को जीवन के विनाश का हेतु मानने लगते हैं। वे प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्ध को पति-पत्नी के सम्बन्ध से अधिक महत्त्व देते हैं। किन्तु वास्तव में हम इसे प्रेम नहीं मानते। यह प्रेम का विकृत रूप वासना है। यह सत्य है कि प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम पति-पत्नी के प्रेम से कहीं अधिक मधुर और मादक होता है, किन्तु वह क्षणिक होता है। प्रेमी और प्रेमिका मदोन्मत्त होकर एक दूसरे को कुछ समय तक इसलिये प्रेम करते हैं कि वे तबतक एक दूसरे को पूर्णरूप से नहीं समझे रहते। अस्पष्टता और कौतूहल ही को कला कहते हैं। मनुष्य जिस बात में रहस्य देखता है उसकी ओर वह स्वभावतः आकर्षित होता है। प्रेमी-प्रेमिका का आकर्षण भी ऐसा ही है। वे एक दूसरे को समझने की

चेष्टा में एक दूसरे की ओर खिंचते हुये चले जाते हैं। पर जब दोनों एक दूसरे को पहचान लेते हैं तो उनका प्रेम स्वप्न-स्वरूप हो जाता है। प्रेम का मार्ग तलवार की धार के समान है। उसके एक ओर निराशा की खाईं है और दूसरी ओर घृणा की। चलनेवाला ज़रा भर भी चूकने पर उनमें से किसी न किसी में गिर जाता है। प्रेम को निराशा या घृणा में बदलने में कुछ समय नहीं लगता। विवाह में केवल उत्तेजनात्मक प्रेम ही नहीं है, उसमें पवित्रता और स्थिरता का मिश्रण भी है। उसमें अनेक बौद्धिक भावनाओं का एकीकरण है। वह प्रेम प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम से अधिक विश्वासास्पद होता है।

विवाह के प्रसङ्ग में एक प्रश्न यह उठता है कि स्त्री का पद महत्त्वपूर्ण है या पुरुष का। वास्तव में, यह प्रश्न कुछ निरर्थक-सा है। इस विषय में सुप्रसिद्ध विचारक Ruskin ने अपने एक निबन्ध Lilies of Queen's Gardens में लिखा है—

We are foolish, and without excuse foolish in speaking of the superiority of one sex to the other..............Each has what the other has not; each completes the other, and is completed by the other: they are in nothing alike and the happineess and perfection of both depend on each asking and receiving from the other what the other only can give.

वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी का स्थान बराबर है। दोनों को एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। योरपीय

समाज में तो दोनों का स्थान बराबर-सा है और शायद स्त्री का स्थान पुरुष से कुछ ऊँचा भी है, किन्तु आधुनिक भारतीय समाज में स्त्री का स्थान एक दासी के समान है और पुरुष का स्थान एक स्वामी के समान। प्राचीन काल से यहाँ के समाज में स्त्रियों का पुरुषों से अत्यन्त नीचा स्थान मान्य होता चला आ रहा है। प्राचीन नीतिकारों के अनुसार स्त्रियों को कभी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। बचपन में वे पिता के आधीन, युवावस्था में पति के आधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के आधीन रहती हैं। यद्यपि इससे समाज में असभ्यता की वृद्धि नहीं होने पाती और स्त्रियों में स्वच्छन्द मनोवृत्ति जागृत नहीं होने पाती, पर यह अन्याय है। और अन्याय चाहे कितना भी लाभप्रद क्यों न हो, वह अन्याय ही है। यदि स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि पुरुषों पर भी क्यों न लगाये जायँ। वास्तविक रूप में अपनी पवित्रता के लिये स्त्रियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। यदि वे चरित्रहीन होना ही चाहें तो उनके पति उनकी मनोवृत्ति को किसी भी मूल्य पर खरीद नहीं सकते। इस विषय में इस युग के पुरुष महात्मा गाँधी ने 'हरिजन-सेवक' में एकबार लिखा था।—

मुझे तो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं याद पड़ता जहाँ पुरुष ने स्त्री के सतीत्व और गौरव की रक्षा की हो। यदि पुरुष चाहे तो भी ऐसा करने में असमर्थ है। न तो राम सीता के गौरव और सतीत्व की रक्षा कर सके थे और न पाँच पांडव द्रौपदी की लाज बचा सके थे। इन दोनों ही देवियों ने अपने सतीत्व की रक्षा एकमात्र अपनी आत्म-शुद्धि की शक्ति-द्वारा ही की थी।

अतएव कोई कारण नहीं कि पुरुष का स्थान स्त्री से ऊँचा

माना जाय। घर में दोनों समान हैं। दोनों की ज़िम्मेदारियाँ समान हैं। एक का सुख दूसरे के सुख पर अवलम्बित रहता है।

अब हम वैवाहिक प्रणाली पर थोड़ा विचार करेंगे। मुझे तो भारतीय वैवाहिक प्रणाली सब से अच्छी लगती है। हमारे यहाँ घर-घर में 'बाँह गहे की लाज' की कहावत चरितार्थ होती है। एक बार पाणिग्रहण हो जाने पर पति-पत्नी घोर संकट पड़ने पर भी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते। ऐसी मर्दानगी समस्त पृथ्वी-मंडल की किसी भी जाति में देखने को नहीं मिल सकती। हमारे यहाँ विवाह के पूर्व जो कुल आदि पर विचार करने की प्रथा है वह वास्तव में बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण है। इससे यह होता है कि पति-पत्नी का *Balance* ठीक रहता है। कोई अपने को ऊँचा-नीचा नहीं समझ सकता। परन्तु कुल ही मुख्य चीज़ नहीं है। हम तो समझते हैं कि जहाँपर सच्चा प्रेम स्थापित हो जाता है, वहाँ पर धनी पति ग़रीब घर की स्त्री के साथ भी सुख से अपना जीवन बिता देता है और धनी घर की स्त्री ग़रीब आदमी के साथ भी बहुत सुख से रहती है। जनक की लड़की के लिये अयोध्या के राजमहलों में रहने की अपेक्षा राम के साथ वन में भूखी-प्यासी रहना अधिक सुखप्रद था। फिर भी वैवाहिक जीवन को अधिक मंगलमय बनाने के लिये हमारे यहाँ इतनी बातों पर विचार करने का नियम है।—

कुलं च शीलं च सनाथता च,
विद्या च वित्तं च वयश्च रूपम्।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया,
कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥

यह तो भाग्य की बात है कि किसे कैसी स्त्री मिलती है। श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने एक उपन्यास 'चन्द्रनाथ' में एक पात्र के मुख से कहलाया है।—

·········सब के भाग्य में एक-सी स्त्री नहीं होती। किसी की स्त्री दासी होती है, किसी की मित्र होती है और किसी की प्रभु।

यह कलाम आजकल के बहुसंख्यक पतियों के लिये सत्य हो सकता है, लेकिन प्राचीन आदर्श इससे ऊँचा था। उसके अनुसार एक ही स्त्री दासी हो सकती है, मित्र हो सकती है और और भी बहुत कुछ हो सकती है। कौशल्या इसी प्रकार की पत्नी थीं। दशरथ ने उनके विषय में अपनी मृत्यु के पूर्व कहा था कि।—

यदा यदा च कौशल्या,
दासीव च सखीव च।
भार्य्यावद् भगिनीवच्च,
मातृवच्चोपतिष्ठति ॥

—वा० रा०

प्राचीन आदर्श ही यह था कि।—

कार्येषु मंत्री, वचनेषु दासी,
भोज्येषु माता, शयनेषु रंभा।
धर्मानुकूला, क्षमया धरित्री,
भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा ॥

इस आदर्श का पालन अब भी यत्र-तत्र होता है—मुख्यतः गाँवों में और सभ्य एवं सुखी परिवारों में। हमें तो यही आदर्श

सब से ऊँचा, पवित्र और जीवन के लिये मंगल-प्रद मालूम पड़ता है।

विवाह का धार्मिक महत्त्व बताना तो शास्त्रों और स्मृतियों का काम है। विवाह में काम-ज्ञान की बातें बताना कोकशास्त्र या कामशास्त्र का काम है। हम तो यही जानते हैं कि जीवन का पथ सुगमता से पार करने का विवाह एक साधन है। उस यात्रा में दो से कम राही एक साथ नहीं चल सकते। जीवन के मार्ग में निराशा की वेगवती नदियाँ हैं; आघातों के तीक्ष्ण काँटे हैं, नाना प्रकार के दुखों के हिंसक जीव हैं। मानसिक व्यथा की घोर निशा से वह सङ्कीर्ण मार्ग छाया हुआ है। उसे मनुष्य अकेले नहीं पार कर सकता। उसे पार करने के लिये एक, और केवक एक, सहायक की ज़रूरत होती है। वह सहायक स्त्री ही हो सकती है, क्योंकि वही सब से अधिक प्रेम कर सकती है। वह अपने प्रेम का मूल्य समझती है क्योंकि उसे वह कहीं पड़ा हुआ नहीं पाती बल्कि उसके बीज को वह स्वयं बोती है और उसके फल की वह यत्न-पूर्वक प्रतीक्षा करती है। वह अपने प्रेम के प्रति सावधान रहती है। आपने सुना होगा कि स्त्रियाँ बहुत जल्दी सन्देह करने लग जाती हैं। सीता जैसी गम्भीर स्त्री को भी वन में लक्ष्मण जैसे मनस्वी व्यक्ति पर सन्देह हो गया था। राम मृग के पीछे गये थे। सीता ने लक्ष्मण को भी जाने को कहा। लक्ष्मण के न जाने पर सीता ने अनेक कटु वाक्यों द्वारा लक्ष्मण के चरित्र पर अपना सन्देह प्रकट किया था और कहा था कि तुम वास्तव में मेरी ही लालच से वन में आये हो। यह सन्देह स्त्री-हृदय की दुर्बलता का द्योतक नहीं है; यह उसके अगाध प्रेम का परिचायक है।

सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपीअर का निम्नोक्त कथन मेरे उक्त वाक्य को स्पष्ट करने में सहायक होगा।—

Where love is great,
the littlest doubts are fears.
Where little fears grow great,
great love is there.

अर्थात्, जहाँ अधिक प्रेम होता है वहाँ छोटे-छोटे शक भी भय का रूप धारण कर लेते हैं और जहाँ साधारण भय भी महान् समझ पड़ें वहाँ अत्यधिक प्रेम विद्यमान रहता है।

मैं अभी कह चुका हूँ कि जीवन के कंटकावकीर्ण मार्ग में एक, और केवल एक, साथी की आवश्यकता होती है—और वह है पत्नी। एक से अधिक सहायक रखने में सुखों की वृद्धि नहीं होती बल्कि वे बँट जाते हैं। प्राचीन समय में तो किसी-किसी के एक-एक लाख स्त्रियाँ और दस-दस लाख पुत्र होते थे। अब भी बहुत-से लोग ऐसे हैं जिनके पास कई-कई सौ स्त्रियाँ हैं। ऐसे तो करोड़ों मिलेंगे जिनके पास दो-दो या तीन-तीन स्त्रियाँ हैं। इस भ्रमर-वृत्ति में क्षणिक आकर्षण है, पर आत्म-संतोष नहीं। ऐसे स्त्री-सेठों के सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा की उस पंक्ति का, जिसे मैं इस लेख के शीर्षक के नीचे लिख आया हूँ, स्मरण दिलाकर मैं इस प्रिय और अप्रिय प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ।

कविता का कलियुग

आजकल की कविता-कामिनी का वही रूप है जो घूँघट के अंदर बैठनेवाली किसी रूप-रंग-विहीन स्त्री का। आजकल की अधिकांश कविताओं में ऊपरी तड़क-भड़क तो खूब रहती है पर उनके भीतर तथ्य कुछ भी नहीं रहता। यह कविता का कलियुग है।

इस कलियुग में पढ़नेवाले कम हैं, और लिखनेवाले ज़्यादा। महाकवि तुक्कड़ माने जाते हैं और तुक्कड़ महाकवि। हाथी को लोग ख़रगोश समझते हैं और ख़रगोश को हाथी। दुलारेलाल भार्गव पुरस्कार जीत रहे हैं और पं० अयोध्यासिंह हवा खा रहे हैं।

पहले ज़माने में प्रेस नहीं थे, मासिक और समाचार-पत्र नहीं थे, आजकल के से साहित्यिक सम्मेलन भी नहीं होते थे; फिर भी हिन्दी की सबसे प्रौढ़ रचनायें उसी समय में हुई हैं। उस समय रॉयल्टी का लोभ नहीं था। प्रेसों और पत्रों के न रहने से जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे नाम प्रकाशित करने की इच्छा जाग्रत ही नहीं होती थी। भक्त लोग एकान्त स्थान में बैठकर 'स्वान्तः सुखाय' रचना करके अपने अन्तस्तल को शीतल करते थे। उन्हें आजकल के कवियों की तरह मञ्च पर नाना प्रकार के स्वाँग बनाकर हाथ मुँह मटकाने, कमर लचकाने और बनावटी महीन राग से गाने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी।

इसीलिये उनकी रचनाओं में स्वाभाविकता रहती थी, कृत्रिमता नहीं आने पाती थी।

कवियों की दूसरी श्रेणी राजमहलों में आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करती थी। वहाँ कवि लोग सभी रसों में लिप्त रहने के कारण उनसे अकारण परिचित हो जाते थे।

आजकल का ज़माना पहले से भिन्न हो गया है। पत्रों के प्रचार से अब लोग इस चिन्ता में रहते हैं कि किस तरह उनका नाम जनता के सम्मुख अधिक से अधिक बार आवे। उनका सारा प्रयत्न इसीलिये होता है कि अखबार के कॉलमों में उनका नाम छपता रहे। वे पुराने भावों को चुराकर किसी तरह तुक आदि ठीक करके पत्र-सम्पादकों की ख़ुशामदें करते फिरते हैं।

इस तरह बिना हृदय के उद्योग के जो कवितायें लिखी जाती हैं, उनमें कुछ भी नवीनता और सहृदयता नहीं होती। एक ही परिधि में सब चक्कर लगाते हैं, कोई उससे बाहर निकलने का प्रयत्न नहीं करता। बेचारे छोटे-मोटे कवि जोगियों की तरह जब देखिये कविता की सारंगी रेतते रहते हैं।

इसमें कवियों का ही नही बल्कि जन-साधारण का भी दोष है। हिन्दू-जाति सदियों से पराधीन होती चली आ रही है। उसका क़ौमी जोश अब बिलकुल ही मुर्दा हो चुका है। इसके विपरीत यदि आप मुसलमानों को देखें तो उनमें हिन्दुओं से कहीं अधिक जीवन और जागृति है। वे अभी यह नहीं भूले कि कल ही उनके बाप-दादे इतने बड़े मुल्क के शाहंशाह थे। उनके हरएक काम में उनका एक प्रकार का जोश छिपा रहता है। उनके मशायरों में शायर लोग इस तरह उत्साह के साथ

हाथ फेंक-फेंककर ग़ज़लें पढ़ते हैं कि डर लगता है कि कहीं पास बैठने वाले का गाल न नोच लें। एक-एक पंक्ति पर श्रोता-समुदाय वाह-वाही का अन्त कर देता है। इसके विपरीत हिन्दी-वाले अपने कवि-सम्मेलनों में इस तरह से आँख गड़ाये बैठे रहते हैं कि मालूम होता है, गोया अपने विवाह-मंडप में बैठे हैं। उनके कवियों की कविताओं में दुनिया भर की ख़ुशामदी की बातें रहती हैं! श्रोता लोग भी उनको ऐसी सुस्ती से बैठकर सुनते हैं कि जान पड़ता है, जैसे घर से शकरक़न्द खाकर आये हैं।

श्रीमती हिन्दी देवी अभी तक अपना घर ठीक से सम्हाल नहीं सकीं। यथा-समय उनके दो पुत्रियाँ—उर्दू और हिन्दुस्तानी भी हुईं। दोनों विधर्मी होगईं। साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने-वाले नवागन्तुक को इस बात का निर्णय करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि वह हिन्दी का सम्बन्ध उसकी किस पुत्री से स्थापित करे। जिस हिन्दी की रफ़्तार को आजकल लोग बहुत तेज़ समझ रहे हैं, वह वास्तव में साहित्यिक हिन्दी नहीं, व्यापारिक हिन्दी है।

आजकल की हिन्दी की लम्बी-चौड़ी कविताओं को पढ़ जाने के बाद वही कहावत याद आती है कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया!' लम्बे-लम्बे आकाश-सदृश वर्णनों में कहीं एक ज़रा-सा भाव बरसाती तारे की तरह झिलमिलाता रहता है। बहुत-से लोग तो ऐसी ज़नानी भाषा लिखते हैं कि जान पड़ता है जैसे मरसिया पढ़ रहे हैं या मरते वक्त अपना वसीयतनामा लिखवा रहे हैं। मगर वे भी लोहू लगाकर शहीदों में दाख़िल हुये रहते हैं। या यों कहिये कि पाउडर लगाकर ख़ूबसूरत बने रहते हैं।

किसी सभा में आपने खयाल किया होगा कि बहुत-से अनधिकारी लोग भी धक्कमधक्का में ठेलते-पेलते आगे पहुँच जाते हैं और बहुत-से अधिकारी लोग पीछे ही रह जाते हैं। यही दशा साहित्य में भी होती है। बहुत-से श्रेष्ठ साहित्यिक पीछे ही रह जाते हैं और बहुत से साधारण लोग आत्म-विज्ञापन करके यश प्राप्त कर लेते हैं। हिन्दी-साहित्य के इस अनियंत्रित युग में इस रेल-पेल से बहुतों ने लाभ उठाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्य-समुद्र के घोंघे और तिनके तो तट पर या ऊपर तैरते हुये नज़र आते हैं और मोती तथा अन्य रत्न समुद्र के गर्भ ही में पड़े हुये हैं। बहुत-से लोग जो कविवर और महाकवि आदि उपाधियों की व्याधि से पीड़ित रहते हैं वे वास्तव में कविवर या महाकवि नहीं होते। धोखे से ये उपाधियाँ उनके गले मढ़ दी जाती हैं। वे जनता से अनुचित सम्मान भी पाते रहते हैं। उनके लिये तो कवि शेक्सपीअर की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं।—

Some are born great, some achieve greatness and some have greatness thrust upon them.

Twelfth Night.

हिन्दीवाले किसी की कविताओं को दो-चार पत्रों के मुख-पृष्ठ पर, अच्छे कागज़ पर, अच्छी स्याही से छपी देखते हैं तो तुरन्त उसे किसी उपाधि से अलंकृत कर देते हैं। वे भोले-भाले पुरुष यह नहीं जानते कि भविष्य उनकी ऐसी तिरस्कारणीय सम्मतियों का कुछ भी मूल्य न आँकेगा। क्या आदि में 'महा' लगाने से कोई महाब्राह्मण किसी ब्राह्मण से श्रेष्ठ समझा जाता है?

अनर्गल बातें बकनेवालों की विवेकहीन सम्मतियों का पारखी लोग कुछ भी ख्याल नहीं करते। किसी अलङ्कार-प्रेमी ने लिख दिया कि।—

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास॥

पर यह सभी जानते हैं और मानते भी हैं कि तुलसी का स्थान सूर से ऊँचा है। यदि ऐसी अर्थहीन तुकबन्दियों का ही कुछ मूल्य हो तो मैं भी लिख सकता हूँ कि।—

तुलसी रवि है सूर शशि, ध्रुव आनन्दकुमार।
बाकी सब कवि चोर हैं, चोंगा और चमार॥

अनुभूत नहीं बल्कि केवल अनुक्त बातों के आधार पर आजकल जो लोग कवितायें रचते हैं उनमें स्वाभाविकता के साथ-साथ स्थायित्व का भी पूर्णरूप से अभाव रहता है। अधिकांश नवयुवक कवियों में प्रतिभा तो रहती ही नहीं, वे अध्ययन करने से भी जी चुराते हैं। बाज़ारू विषयों में उनका केवल चंचुक-प्रवेश रहता है। उसी के सहारे कुछ समय तक वे अपना ढिंढोरा पीटते रहते हैं, पर पीतल कब तक सोने की तरह चमकेगी? वे नोट या रूपया बटोरने की कोशिश तो करते नहीं; जेब में अधेले और पाइयाँ भरकर साहित्य के बाज़ार में सौदा करने निकलते हैं।

आइये हम वर्तमान हिन्दी-कविता की कुछ विशेषताओं पर ध्यान दें।

आधुनिक हिन्दी-कविताओं में अपूर्ण क्रियाओं का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया जाता है। इस विषय में बाबू

मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे पहले न लेना उनके साथ अन्याय करना होगा। वे 'है' 'थे' 'था' आदि को अनावश्यक समझते हैं।—

भ्रमर इधर मत भटकना, ये खट्टे अंगूर

—साकेत

ये प्रासाद रहें न रहें पर अमर तुम्हारा यह साकेत

—साकेत

बाबू मैथिलीशरण जी के संग्रहालय में तो मधुर शब्दों के लिये स्थान हई नहीं। उनकी कविता में बड़ी खड़खड़ाहट है। वे 'अहा', 'हा', 'सर्वथा' को 'अमृतधारा' की शीशी की तरह मस्तिष्क-रूपी जेब में रक्खे रहते हैं। जहाँ मात्रा या शब्द घटने का कोई रोग हुआ कि वे उसे निकालकर वहाँ फ़ौरन लगा देते हैं। जिस तरह एक मौलवी का 'साहब तुम्हारे मुँह में' तकिया-क़लाम था वैसे ही इनका तकिया-क़लाम 'अहा' है। इस शब्द का अनावश्यक प्रयोग इनकी कविता में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिल सकता है।—

तब वीर अर्जुन ने कहा—
माँ तुम मुझे भेजो अहा!
सब जानते हैं पार्थ मेरा नाम है।

—(वक-संहार)

कविता का महत्त्व अब इतना गिर गया है कि उसका उपयोग दवाइयों के विज्ञापन आदि में किया जाता है। भला बताइये, कविता-कामिनी को बनिये की दूकान पर बैठाकर उससे चूरन और गोलियाँ बेंचवाइयेगा तो उसकी शोभा और श्री कहाँ तक रह जायगी। दवाइयों और रोगों पर बहुत-सी

देवियाँ भी बैठकर बेकार के लिये अपना दिमाग़ लड़ाया करती हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा।—

महिला-समाज बीच स्वास्थ्य धन लूटिबे को,
मौका ताकि प्रदर ने ग़दर मचायो है।

—गोपाल देवी

हिन्दी-कविता में भावों और शब्दों का क्षेत्र भी अत्यन्त संकुचित होता जारहा है। नदी पर कविता लिखनेवाला 'कलमल-कलमल', 'टलमल-टलमल' ज़रूर लिखता है। पवन का वर्णन करते समय सभी 'सर-सर', 'मर-मर' याद रखते हैं।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र ने एक स्थान पर लिखा है कि उर्दू बीबी की जमा-पूँजी इतनी ही है।—

आशिक़, माशूक़, बाग़, गुल, बुलबुल, बाग़बान, सैयाद (चिड़ीमार), ख़िलवत (एकान्त स्थान), जिलवत (मजलिस), शराब, कबाब, साक़ी, मुतरिब (गवैया), रक़ीब, नासिह (मद्य और वेश्यादि के संसर्ग से रोकनेवाला), वायज़, (उपदेशक), आसमान।

अब मैं उन शब्दों और विषयों की एक सूची देता हूँ जिनके अन्तर्गत होकर तिरछीबोली (छायावाद) का समस्त पाखंडी समाज चल रहा है। इससे आपको मालूम होगा कि छाया-वाद की कविता कैसी बनारसी गली में से होकर गुज़र रही है।—

स्वर्णिम, दुकूल, निर्झर, कलमल-टलमल, झर-झर, रे, मधु-मास, अज्ञात, अनजान, अजान, सिहर, नवबाला, अग-जग, चितवन, पुलक, गात, विहग, उच्छ्वास, कम्पित, अधर, सखि, तुहिन, मर्मर, आभास, चिर, निष्ठुर, शलभ, अवगुण्ठन, निशीथ, तम, प्राण, व्याकुल, हृतन्त्री, वीणा, कोमल, सुधि, फेनिल,

मधुकण, पुलकित, तन्द्रिल, स्पन्दन, नीरव, पल्लव, छूना, छवि-मान, लघु, गान, प्रतिपल, झंकार, गायक, शाश्वत, रश्मि, कण, रंजित, क्षितिज, वेदना, कसक, अलि, पीर, छलकना, पराग, मधु, मृदु, मलय, सिहरना, साकार, वात, वातास, मुसकान, प्रतिपल, संचित, नीड़, निरुपम, करुणाकर, तर, तम, अपलक, पतझड़, निहारना, अंचल, अबोध, अज्ञात, अनन्त की ओर, अस्फुट, मौन, बुद्बुद्, व्यापार, सिसकना, शूल, सूनापन, शून्य, अम्लान. कम्पन, शैशव, यौवन, स्मित, अलसाई, झंझावात, नर्तन, परिवर्तन, प्रतिबिम्ब, क्रन्दन, शिशु, सजनि, पंख, असीम, तारक, सुरभि, विलीन, आकुल, प्राण, निर्भय, मोल, मुखरित, हठीले प्राण, आह्वान, मनुहार, पलकें, रजनीबाला, ओसों का हार, गायक, कलरव, खद्योत, गुञ्जन, गुम्फित, गुनगुन, उन्मन, रूपराशि, कंकाल, लघु, लहर; इंगित, अविरल, जीवन का खेल, विहाग, प्रेयसि, भोलापन, पागल प्यार ।

बस यही कथित छायावादियों का शब्द-कोष है। छायावादी बनने के लिये इतने ही शब्दों को सीखने की आवश्यकता पड़ती है । जिसको देखिये उसीकी हृतन्त्री के तार टूटे रहते हैं।—

अरे छेड़ मत इस तंत्री के,
अस्त-व्यस्त हैं तार।

—चकोरी

बहुत से छायावादी ढूँढ़-ढूँढ़कर कठिन शब्द रखते हैं। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि उनकी कविता का कोई अर्थ निकलेगा या नहीं। अपनी पिनक में बहँके हुये दनादन छंद पर छंद जोड़ते चले जाते हैं। उनको सम्मान इसलिये प्राप्त हो जाता है कि वे नाज़-नख़रे और संगीत में उस्तादजी होते हैं। उनके

सौभाग्य से आधुनिक श्रोता-समाज संगीत-मात्र को कविता समझता है।

आधुनिक छायावाद की तारीफ़ करना वेश्या को सती कहना है। उसमें कुछ भी तथ्य नहीं है। छायावादी कवितायें जापानी खिलौने की तरह हैं, जो ऊपर से तो ख़ूब *Polished* रहते हैं, पर उनके भीतर मज़बूती ज़रा-भर भी नहीं रहती। काव्य-प्रेमी जितना समय छायावाद की बेतुकी कविताओं को पढ़ने में लगाते हैं उतना यदि श्रेष्ठ कवियों के काव्यावलोकन में लगावें तो शायद वे फ़ायदे में रहेंगे। मुझे तो इस विषय में चाणक्य का वही श्लोक याद पड़ता है कि यदि सिंह की गुफा में जाओगे तो गजमुक्ता मिलेंगे, यदि जम्बुक की माँद में जाओगे तो बछड़े की पूँछ या गदहे का चर्म-खण्ड हाथ लगेगा।—

गम्यते यदि मृगेन्द्र-मंदिरम्, लभ्यते करि-कपाल-मौक्तिकम्।
जम्बुकालयगते च लभ्यते, वत्सपुच्छ खर-चर्म-खण्डनम्॥

मैं ऊपर दिखा आया हूँ कि छायावादी कवि शब्दों और भावों की कितनी 'साँकरी गली' में होकर चल रहे हैं। इसका एक उदाहरण देकर मैं आगे बढ़ता हूँ।—

फैलते जाते हैं बहु भाँति,
बन्धु छूने अग-जग के छोर।

—सुमित्रानन्दन पन्त

तम पोंछ रहा मेरा अग-जग।

—महादेवी वर्मा

जब शीतल शशि का सहज प्यार।
छूता कण-कण को कर पसार।
रसमय होता अग-जग अपार।

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

अग-जग दिशायें नूपुरों के,
मधुर रव से गूँजती हैं।
—किसलय

है अग-जग करता यह पुकार।
फिर आज विश्व में अन्धकार॥
—पर्णिका

जो होता नित क्षीण एक दिन
विभासिक्त करके अग-जग सखि।
—दिनकर

छायावादियों ने यह 'अग-जग' तुलसीदास से चुराया है।—

रघुबीर निज मुख जासु गुनगन,
कहत अग-जग नाथ जो।
—उत्तरकाण्ड

वास्तव में, छायावादियों के पोप श्रीमान् पंतजी ने जितने शब्दों का प्रयोग पल्लव में कर दिया है, उन्हीं को सभी नवयुवक बार-बार रगड़ रहे हैं। पन्त की छाया बनने में सैकड़ों लोग प्रयत्नशील हैं, पर पन्त बननेवाला कोई नज़र नहीं आता।

रहस्यवाद बहुत ऊँची चीज़ है। उसमें कवि को जासूस बनकर रहस्यमयी प्रकृति के क्रान्तिकारी कार्यों का पता लगाना पड़ता है। 'वह' डाल-डाल पर भागता है तो कवि उसे पात-पात में खोजता है। आजकल के दुधमुँहे कवि यह जासूसी नहीं कर सकते। आजकल तो नक़ली छायावादियों की संख्या राजा सगर के पुत्रों की तरह बढ़ती जारही है। बाज़ार में स्तंभनकारी और बाजीकरण औषधियों की तरह छायावाद की कविता का

भी ढेर लगता जा रहा है। बाज़ार में मिलावटी घी और बनावटी शहद की तरह मिलावटी कविता और बनावटी रहस्य-वाद का भी विक्रय हो रहा है। आजकल तो किसी भी बे-सिर-पैर की बात को लोग रहस्यवाद कहकर पुकारने लगते हैं। पुण्य का नाम लेकर पाप होरहा है। विधवाश्रम खोलकर अपनी काम-पिपासा की तृप्ति की जा रही है। आजकल का रहस्यवादी आँखें बन्द करके चश्मा लगाता है।

स्त्री-कवियों में पुजारिन बनने की लालसा अत्यन्त प्रबल दीख पड़ती है। धनी पुजारिन भी नहीं बल्कि ग़रीब। सभी ख़ाली हाथ रहती हैं। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की एक कविता इस विषय पर निकली थी।—

देव, तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग से लाते हैं॥
मैं ही हूँ ग़रीबिनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लाई।
फिर भी साहस कर मंदिर में पूजा करने को आई॥
धूप-दीप-नैवेद्य नहीं है झाँकी का श्रृंगार नहीं।
हाय गले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं॥

—सुभद्राकुमारी चौहान

इसी कविता की देखादेखी इसी की नक़ल करके बहुतों ने कवितायें लिखीं, पर सब में यही भाव है, केवल भाषा का थोड़ा हेरफेर है।—

धूप-दीप-नैवेद्य आदि से सोने की सुन्दर थाली।
सजा सजाकर भक्त तुम्हारे तुम्हें रिझाते बनमाली॥
मैं ग़रीबिनी हूँ पर ऐसी नहीं पास है कुछ मेरे।
कैसे साहस करूँ देव मैं पद पखारने को तेरे॥

—हीरादेवी चतुर्वेदी

पूजा का कुछ साज नहीं है,
देव आह दुखिया के पास।

— नलिनी

सब की कल्पना की रेलवे-लाइन एक ही है। उसीपर कभी डाकगाड़ी दौड़ जाती है, कभी मालगाड़ी और कभी पैसेंजर।

मैं वर्तमान कवियों के संकीर्ण क्षेत्र की ओर थोड़ा संकेत कर चुका। एक ही भाव को बार-बार घोंटने में कोई लाभ नहीं है। पुरानी कल्पनाओं को बार-बार दोहराना वैसा ही लगता है जैसे आप किसी बुड्ढे के सिर में खिजाब लगाकर उसे नवयुवक प्रमाणित करें। कलाकार का महत्त्व तो तभी है जब उसकी कृतियों में कोई नवीनता हो और अपनापन हो। हमें साहित्य में नई ज़िन्दगी के साथ, नये जोश के साथ, नये सन्देश के साथ प्रवेश करना चाहिये। दूसरों के कन्धों पर बैठकर कविता के मधुवन में विहार करना बड़ी कायरता और बुज़दिली है।

अन्य भाषाओं के कवियों में भी संभवतः ऐसी स्वच्छन्दताएं पाई जाती हों पर हमें अपने घर को सबसे पहले देखना चाहिये। अन्य भाषा और अपनी भाषा में वही अन्तर होता है जो अन्तर होटल और अपने घर में होता है। होटल तो कभी-कभी ज़रूरत के वक्त काम में आते हैं, लेकिन घर ज़िन्दगी भर के लिये होता है। इसलिये घर की सफ़ाई पहले होनी चाहिये। अन्य भाषाओं के कवि कैसा स्वच्छन्दता पसन्द करते हैं कैसी नहीं, इससे हमसे मतलब ?

कौटुम्बिक जीवन

जिसकी जेब में पैसा रहे वह यात्रा में घर न मिलने पर वेश्या के घर को भी अपना निवास-स्थान बना सकता है, होटल में ठहर सकता है, अथवा किसी के यहाँ भी पैसे के प्रभाव से समय बिता सकता है। पर उनकी दशा सोचिये जो खाली जेब पैदल चलकर अदालत में हाज़िर होते हैं; रहने के लिये स्थान न मिलने पर नाना प्रकार के कष्ट उठाते हैं। उनकी हालत को सोचकर यह प्रश्न उठता है कि वे क्यों इतना कष्ट उठाते हैं? क्या वे इन सांसारिक झंझटों को छोड़कर, अपने परिवारवालों को त्यागकर, पूर्ण स्वतंत्र होकर, सुखमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकते?

गाँव का एक आदमी ज़मीन के एक छोटे-से टुकड़े के लिये झगड़ा करता है, घायल होता है, मर जाता है। उसे ऐसा करने की क्या ज़रूरत थी? उसे तो एक दिन समस्त संसार, अपना सर्वस्व और अपना धन त्यागकर एक अज्ञात देश का वासी बनना था, फिर उसने इतना उत्पात क्यों किया?

राह चलते समय ठोकर लगकर गिर पड़ने पर एक लड़का कहता है—अरे बाप रे! पैर टूट गया। यकायक किसी खौफ़नाक चीज़ को देखकर वह अनायास कह उठता है—बाप रे बाप! इसी तरह इन्हीं शब्दों में वह अपनी माँ को भी स्मरण करता है। ऐसा क्यों है? माँ-बाप तो उस समय वहाँ उपस्थित रहते नहीं फिर उनकी याद करने से क्या फ़ायदा? वह किसी

पास में मौजूद रहनेवाले को इसी प्रकार से क्यों नहीं बुलाता ? पास में खड़े हुये सिपाही को वह 'अरे सिपाही रे' अथवा 'सिपाही रे सिपाही' कहकर क्यों नहीं पुकारता ?

अख़बारों में पढ़ता हूँ कि एक घर में आग लग गई। सब बाहर चले आये। एक बच्चा अन्दर रह गया। उसकी माँ उसे लेने के लिये लपटों को चीरकर भीतर प्रवेश कर गई। वह वहीं जलकर राख होगई। दो महीने के बच्चे के लिये अपना शरीर देने की क्या ज़रूरत थी ? वह बाप जो चलती हुई ट्रेन में से अपने बच्चे के गिर जाने पर स्वयं भी कूद पड़ा, क्यों इतना दुस्साहस करने के लिये तैयार हुआ ? डेढ़-दो बरस के लड़के से उसे कोई फ़ायदा तो था नहीं; वह उसे कमाकर खिलाने लायक भी तो नहीं था। फिर उसके लिये अपना प्राण होम करने की उस बाप को क्या ज़रूरत थी ?

उपरोक्त अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर होगा कि कुटुम्ब का आकर्षण ही ऐसा है कि मनुष्य उसीके लिये जीता-मरता है। उसे वह अपना समझता है और अपने को उसका समझता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि मनुष्य चारों तरफ़ से कौटुम्बिक बन्धनों से घिरा हुआ है। प्रत्येक दशा में उसे अपने कुटुम्ब का ध्यान रखना पड़ता है। मनुष्य चाहे क्रान्तिकारी हो, चाहे कवि; चाहे बन्दी हो, चाहे मुक्त उसका मन उसके कुटुम्ब के आसपास ही रहेगा। कोई कितना भी दुष्ट होगा, उसे कुटुम्ब में कौटुम्बिक नियमों का पालन करना होगा। वह अपनी माँ को अपनी स्त्री बनाकर नहीं रख सकता और अपनी स्त्री को अपनी माँ समझकर नहीं रह सकता। उसकी आत्मा

उसे ऐसा करने से रोकेगी। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के हृदय में कौटुम्बिक जीवन का बीजारोपण वास्तव में ईश्वर ने किया है। मनुष्य का मस्तिष्क जान-बूझकर ऐसा बनाया गया है कि उसमें पारिवारिक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति सदैव जाग्रत रहती है।

मनुष्य सदैव से ही कुटुम्ब में रहता चला आरहा है, और वह कुटुम्ब में ही रह सकता है। कुटुम्ब से बाहर दो ही प्राणी रह सकते हैं, जो या तो योगी हों या जो जाहिल अथवा पागल हों।

वास्तव में कुटुम्ब ही मनुष्य का प्रारंभिक क्षेत्र है। यहीं मनुष्य अपने जीवन को विकसित करता है। यहीं वह सद्गुण और दुर्गुणों का ज्ञान प्राप्त करता है। कुटुम्ब विशाल संसार का एक मानचित्र है जिसे देखकर मनुष्य इस विस्तृत संसार के वास्तविक रूप का अनुमान करता है। कुटुम्ब ही में वह अपनी मनोवृत्तियों का ढाँचा तैयार करता है।

कुटुम्ब हमारे जीवन को दो भागों में विभाजित करता है—कौटुम्बिक और व्यक्तिगत। हमारा कौटुम्बिक रूप हमारे व्यक्तिगत रूप से भिन्न होगा। हम व्यक्तिगत रूप से किसी माता के पुत्र हो सकते हैं, किसी स्त्री के पति हो सकते हैं, किसी पुत्र के पिता हो सकते हैं, किसी पिता के पुत्र हो सकते हैं और किसी क्लब के मेम्बर हो सकते हैं। लेकिन कौटुम्बिक रूप में हम कुटुम्ब के एक प्राणी ही हो सकते हैं। अगर हम किसी क्लब के मेम्बर हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होगा कि हमारा सारा कुटुम्ब उस क्लब का मेम्बर है। अगर हम 'वोटर' हैं तो हमारे कुटुम्ब का प्रत्येक प्राणी वोट देने का अधिकारी नहीं

होगा। हम बुरे हो सकते हैं, पर हमारा सारा कुटुम्ब बुरा नहीं हो सकता। हमारे पैर में चोट लगने का अर्थ यह नहीं होगा कि हमारे कुटुम्ब भर के प्रत्येक प्राणी को चोट लग गई है। व्यक्तिगत और कौटुम्बिक जीवन में वही अन्तर है जो देशीय और राष्ट्रीय भावों में है। निश्चित् समय के दस मिनट बाद पहुँचना हमारा देशीय गुण हो सकता है लेकिन राष्ट्रीय नहीं; क्योंकि राष्ट्र कहने से एक सुसंगठित देश का बोध होता है। इसी प्रकार कुटुम्ब कहने से भी एक छोटी-सी सुसंगठित संस्था का बोध होता है, जिसे 'कुल' या 'परिवार' भी कहते हैं।

मगर ये विभाजन सैद्धान्तिक हैं। वास्तविक रूप में हमारा व्यक्तिगत जीवन हमारे कौटुम्बिक जीवन से पूर्णरूपेण सम्बद्ध रहता है। यदि एक को चोट लगती है तो सबके शरीरों को भले ही चोट न लगे पर तकलीफ़ सब को होती है। यदि एक आदमी कुमार्गी निकल जाता है तो सारा कुल बदनाम हो जाता है। यदि एक आदमी कुलीन पैदा होता है तो उसकी वजह से समस्त कुल का नाम उजागर होता है। उसका सारा कुटुम्ब उसी के नाम से अपना परिचय देता है, और लोगों की दृष्टि में सम्मान प्राप्त करता है। एक के यश से परिवार के सभी लोग यशी बन जाते हैं और एक के अपयश से समस्त कुल कलंकित हो जाता है।

कौटुम्बिक जीवन में एक मुख्य बात यह होती है कि उसमें स्वार्थ नहीं रहता। सब एक दूसरे को सहारा देते हैं। इसमें कोई स्वार्थ की भावना नहीं रहती। यदि कौटुम्बिक जीवन में स्वार्थ की गुंजाइश होती तो माँ अपने छोटे बच्चे के लिये क्यों जान देती? किसी कुटुम्बी को संकट से उबारने के लिये

कोई अपने जीवन को संकट में क्यों डाल देता? अतएव स्पष्ट है कि कौटुम्बिक प्रेम स्वाभाविक एवं स्वार्थ से परे है। वह विशुद्ध है, सत्य है और संयमित है। यह सच है कि बहुत-से मनोविकार मनुष्य कुटुम्ब ही में प्राप्त करता है। जैसे बदला लेने की प्रवृत्ति मनुष्य कुटुम्ब ही में सीखता है। छोटी अवस्था में बच्चा जब कभी ज़मीन पर गिर पड़ता है और रोने लगता है तो माँ ज़मीन को हाथ से पीटकर बच्चे को समझाती है कि इसने (ज़मीन ने) तुम्हें गिराया था, मैंने इसके लिये उसे सज़ा दे दी है। बचा इस पर ख़ुश होकर रोना बन्द कर देता है। यह बदला लेने की प्रवृत्ति मनुष्य बचपन ही से सीखता है और इसके लिये कुटुम्ब ज़िम्मेदार है। पर कुटुम्ब इसके लिये और ऐसे अनेक मनोविकारों के लिये सर्वथा दूषित नहीं ठहराया जा सकता। वह आखिरकार मनुष्यों-द्वारा ही तो निर्मित है। दूसरे, जिस जगह से मनुष्य अनेक जीवनोपयोगी गुण ग्रहण करता है, वहाँ यदि थोड़े से दुर्गुण भी मिलें तो वे क्षम्य ही समझे जायँगे।

खेद है कि कौटुम्बिक जीवन की पुरानी सहृदयता अब धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। पैसे की भयानक लोलुपता ने मनुष्य-जाति की सहृदयता को नष्ट कर डाला। पिता की अन्याय-युक्त आज्ञा को माननेवाले राम अब कहाँ दिखाई पड़ते हैं? पुत्र के वियोग में शरीर को त्याग देनेवाले दशरथ अब कितने हैं? पति के साथ प्राण देनेवाली सतियाँ अब कहाँ हैं? और कुल की मर्यादा के लिये अपना शरीर दान कर देनेवाले अब कितने राजस्थानी वीर इस भारत-भूमि पर हैं?

धीरे-धीरे मनुष्य आवश्यकता से अधिक सांसारिक होगया

है। अब पुत्र से अधिक मान कामकाजी नौकर का होता है। भाई से अधिक मान पैर दबानेवाले नाई का होता है। मनुष्य-हृदय के पतन के इससे ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकते हैं !

फिर भी एक अच्छा ज़माना आयेगा—जब प्रत्येक व्यक्ति फिर से अपने कुल के लिये जियेगा-मरेगा, जब प्रत्येक पुत्र अपने को अपने पिता का एक अंश-मात्र समझेगा, जब प्रत्येक पिता अपने पुत्र का सम्मान बचाने में अपना सम्मान समझेगा। वह मंगलमय युग होगा—जब भाई के लिये भाई मरेगा, जब पिता के लिये पुत्र मरेगा, जब बेटे के लिये माँ मरेगी और जब कुटुम्ब के छोटे-से-छोटे प्राणी की रक्षा में कुटुम्ब का बड़ा से बड़ा व्यक्ति अपना शरीर दान कर देगा। हम कभी-न-कभी उस शुभ दिवस के प्रभात में अवश्य आँखें खोलेंगे। उस मंगल-प्रभात का सूर्य समस्त मनुष्य-समाज के मस्तक का श्री-बिन्दु होगा।